मूल्य	:	दो रुपये
प्रथम संस्करण	:	जून, १९६१
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

जी
व
नी

रामधारीसिंह दिनकर

गोरा-चिट्टा रंग, लम्बाई पांच फुट ग्यारह इंच, भारी-भरकम शरीर (जो अब हलका और दुर्बल हो चला है), बड़ी-बड़ी आंखें (जो रचना के दिनों में चिन्तनक्लिष्ट लगती हैं, पर बात करते समय या कविता-पाठ करते समय प्रदीप्त हो उठती हैं), ललकार-भरी बुलन्द आवाज़, तेज़ चाल और क्षिप्र बुद्धि—ये हैं वे बहिरंग विशेषताएं जिनसे दिनकर का व्यक्तित्व बना है। वे किसी भी परिस्थिति पर तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं। उनकी कविता उन्हीं प्रतिक्रियाओं का कलात्मक प्रतिफलन-भर है। उनकी कविता में उनका इन्द्रधनुषवर्णी व्यक्तित्व प्रबल रूप से सामने आता है। उनके व्यक्तित्व से प्रभुत्व की आभा छिटकती है, स्वाभिमान और आत्मविश्वास की प्रबलता भी व्यंजित होती है। आर्किमिडीज़ ने जो यह चुनौती दी थी कि मुझे खड़े होने की कोई जगह दो, तो मैं एक डण्डे से पृथ्वी को उसकी धुरी से च्युत कर सकता हूं, उनका काव्य पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि दिनकर को वह जगह मिल गई है। वह जगह है उनका आत्म-विश्वास, वह जगह है उनका स्वाभिमान और सबसे बढ़कर वह जगह है उनका यह भाव कि मेरी सारी सिद्धि मेरे अपने अध्यवसाय के वश में है। यही वह स्वर है जिसके कारण वे युवकों और युवतियों को प्रिय हैं। उनकी हर अंगभंगी यह ललकारकर कहती है, 'दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति' जिसका मार्क्सवादी अनुवाद है, मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।

दिनकरजी को आवेश में आते देर नहीं लगती।

सन् १६३३ ई० में जब उन्होंने 'ताण्डव' कविता लिखी, यह कविता उन्होंने, खास तौर से, वैद्यनाथ धाम (देवघर) जाकर, शंकर महादेव को सुनाई थी। परन्तु १६४६ में जब वे बाल-बच्चों को लेकर उस मन्दिर में पहुंचे, तो देखा कि वहां मिथिला की बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियां जल चढ़ाने की प्रतीक्षा में खड़ी जाड़े से थरथर कांप रही थीं और पण्डा उन्हें जल चढ़ाने से रोके हुए था।

पण्डा अपने किसी सेठ यजमान की पूजा करवा रहा था और कहता था, जब तक मेरा यजमान पूजा समाप्त नहीं कर लेता, मैं किसीको भी जल चढ़ाने नहीं दूंगा।

फौरन दिनकरजी से उसकी कहा-सुनी हो गई। फिर भी जब वह किसी भी तरह राज़ी नहीं हुआ, दिनकरजी बोले—हे महादेव! लोग मुझे क्रान्तिकारी कवि कहते हैं और आप अमुक पण्डा के गुलाम हो गए। इसलिए, अगर मैं जल चढ़ाऊं तो इसमें मेरे प्रशंसकों का अपमान है।

इतना कहकर गंगाजल-भरी सुराही उन्होंने शंकर के माथे पर दे मारी और क्रोध में मन्दिर से बाहर निकलकर वे मार-पीट की तैयारी करने लगे।

फिर भी विनय उनका स्वभावसिद्ध गुण है।

राष्ट्रपति ने उन्हें जब 'पद्मभूषण' से अलंकृत किया, दिल्ली में उनके सम्मान में एक पार्टी का आयोजन किया गया। उस आयोजन में बोलते हुए राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने एक बात यह भी कही—दिनकरजी को लोग कभी-कभी अभिमानी समझ लेते हैं, किन्तु अभिमानी वे हैं नहीं।

दिनकरजी जब उत्तर देने को खड़े हुए, उन्होंने कहा—आप सबके चरणों की धूल मिल जाए तो उसे अपने मस्तक पर लगाकर मैं अपने अभिमान को दूर कर दूं।

दिनकरजी को अपनी महिमा का ध्यान तब होता है जब कोई उन्हें उसकी याद दिला दे।

सन् १९३७ में जब पहले-पहल कांग्रेस ने सरकार बनाई, बिहार के नेताओं ने चाहा कि दिनकरजी हिन्दी में एम० ए० कर लें तो उन्हें सब-रजिस्ट्रारी से मुक्त करके किसी कालेज में डाल दिया जाए। दिनकरजी ने यूनिवर्सिटी की फीस जमा कर दी, किताबें भी खरीद लीं और वे मनोयोगपूर्वक परीक्षा की तैयारी में लग गए। यह बात जब श्री जयप्रकाश नारायण (अब सर्वोदयी नेता) को मालूम हुई, तो उन्होंने दिनकरजी को बुलाकर कहा—लड़कों की तरह परीक्षा में बैठने जा रहे हैं? आप अपनी इज़्ज़त नहीं कर सकते तो उनकी तो कीजिए जो आपको कवि मानते हैं।

दिनकरजी ने उसी दिन से परीक्षा की तैयारी छोड़ दी और एम० ए० करने की बात उनके मन में फिर कभी नहीं उठी। पीछे, १९५० में जब बिहार

सरकार ने उन्हें प्रोफेसर नियुक्त किया, जयप्रकाशजी ने उन्हें एक पुस्तक भेंट की और कहा—देखा न, मैंने जो आपको एम० ए० करने से रोक दिया था, उससे आपकी कोई नुकसानी नहीं हुई।

दिनकरजी में जुआरी की हिम्मत है।

संसद् की सदस्यता के लिए उन्होंने प्रोफेसरी पर लात मार दी। प्रथम श्रेणी की प्रोफेसरी बड़ी ही नायाब चीज़ होती है। उससे रुपये भी मिलते हैं तथा इज्ज़त और आराम भी। सारी ज़िन्दगी दिनकरजी छोटी-छोटी नौकरियों में सड़ते आए थे। बस, यही नौकरी थी जो सब तरह से उनके अनुकूल पड़ती थी। लेकिन उसे छोड़कर वे संसद्-सदस्य हो गए। और यह उस समय जब उनके माथे पर परिवार का पहले से भी कहीं अधिक बोझ था।

लेकिन दिनकरजी जुए के खतरों से डरते भी हैं।

संसद्-सदस्य होकर जब उन्होंने यह देखा कि परिवार को आर्थिक कठिनाइयां होने लगी हैं, उन्होंने अपनी पुस्तकें प्रकाशकों से ले लीं और अपने लड़के रामसेवकसिंह को (जो हिन्दी के प्राध्यापक थे) नौकरी से निकालकर उन्होंने प्रकाशन में लगा दिया। 'उदयाचल' उनकी अपनी प्रकाशन-संस्था है और अब सारा दिनकर-साहित्य वहीं से उपलब्ध है।

दिनकरजी में क्रोध और भावुकता, दोनों का मिश्रण है।

जब वे सब-रजिस्ट्रार थे, एक बार उन्होंने अफसरी की शान में आकर एक गरीब आदमी पर छड़ी चला दी। लेकिन अपने इस दुष्कृत्य पर वे रात-भर रोते रहे। जब भोर हुआ, उन्होंने उस गरीब को बुलाकर उससे माफी मांगी, उसे रुपये दिए और जब तक वे उस गांव में रहे, बराबर उसकी सहायता करते रहे।

एक बार मद्रास में, दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा में दिनकरजी का भाषण हो रहा था। जब भाषण समाप्त हुआ, छात्र उनसे कुछ सवाल करने लगे। एक छात्रा ने पूछा—दिनकरजी ! क्या आप जीवन में भी उतने ही क्रोधी हैं जितने काव्य में दिखाई देते हैं ?

दिनकरजी ने ज़रा रुककर जवाब दिया—हां, लेकिन अब क्रोध नहीं करूंगा, क्योंकि अक्सर क्रोध करने के बाद मुझे रोना आ जाता है।

लेकिन क्रोध उनका गया नहीं है और गुस्से में आकर वे अब भी रो

पड़ते हैं।

दिनकरजी पक्के शहरी लगते हैं—विदग्ध और शालीन अर्थ में, और हैं भी।

उनका पहनावा-ओढ़ावा और रहने का ढंग स्वच्छ है। वे देश के बड़े लोगों की गोष्ठियों में ठीक प्रथम कोटि के नागरिक का सा व्यवहार करते हैं। नारियों की गोष्ठी में उन्हें झेंप नहीं आती। सच तो यह है कि नारियां उनसे प्रसन्न रहती हैं क्योंकि वे कविता पढ़ते हैं, चुटकुले सुनाते हैं और जिस समाज में बैठते हैं उसका समयानुकूल बौद्धिक मनोरंजन करते रहते हैं। यदि दूसरा कोई व्यक्ति बोलने की धुन में हो, तो दिनकरजी देर तक उसकी बात सुन सकते हैं। दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन से उनकी गहरी दिलचस्पी है। नाटक, रामलीला, नृत्य, बैले और संगीत-समारोहों में उनका दूर से दिखाई देनेवाला सुपरिचित भव्य चेहरा अक्सर देखा जा सकता है। कई बार उनकी बुलन्द आवाज़ के कारण मालूम हो जाता है कि इस गोष्ठी में वे हैं। प्रायः प्रतिवर्ष वे फिल्मों की राष्ट्रीय पुरस्कार समिति के सदस्य होते हैं। वैसे वे संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी और आकाशवाणी की राष्ट्रीय सलाहकार समिति के भी कर्मठ सदस्य हैं। संस्कृति के क्षेत्र में दिनकरजी के सुसंस्कृत विचार और उनकी शिष्ट रुचि का आदर होता है।

लेकिन उनमें अक्खड़ देहाती के संस्कार भी प्रबल हैं।

शादी-ब्याह और यज्ञ-प्रयोजन में वे देहाती परम्परा के कायल हैं और इन कामों में क्रान्तिकारी कदम उठाना उनके लिए बिलकुल दुशवार है। परिवार और गृहस्थी के लिए उनमें अत्यन्त मोह है, जिसे हम ग्रामीण किसान का ही गुण कह सकते हैं। देहाती संस्कार उनमें कुछ और भी हैं। उनका विश्वास केवल तीर्थ-व्रत और पूजा-पाठ में ही नहीं, बल्कि भूत-प्रेत, ओझा-गुणी और साधु-सन्त में भी है। जवानी के दिनों में उन्होंने बहुत-से साधुओं का कम्बल ढोया था और ऐसे कई व्यक्तियों की संगति की थी जो योगी और चमत्कारी समझे जाते थे।

निपट किसानों के ही समान वे खैनी भी बड़े शौक से खाते हैं। बचपन में उन्होंने गाय-भैंस भी चराई थी और पशु-पालन में आज भी उनका अनुराग है।

दिनकरजी परिहास-रसिक भी हैं और हाजिरजवाब भी।

जब वे वारसा (पोलैंड) गए थे, वहां एक कवि-सम्मेलन वारसा विश्वविद्यालय में भी हुआ था। इस सम्मेलन में इंग्लैंड के कवि श्री लारी ली (Laurie Lee) ने एक कविता पढ़ी जिसका शीर्षक 'बाम्बे—अराइवल' था, और जिसमें अंग्रेजों के पहले-पहल भारत आने का उल्लेख था। श्री ली ने दिनकरजी की ओर हास्यमिश्रित संकेत से देखा ही था कि दिनकरजी बोल उठे—मिस्टर ली, अब दूसरी कविता आप 'बाम्बे—डिपार्चर' पर लिखिए, क्योंकि अंग्रेज़ भारत से जा चुके हैं।

सुनते ही अट्टहास छा गया और पोलिश श्रोता तालियां पीटने लगे।[1]

दिनकरजी इधर बीमार रहने लगे हैं। एक दिन उनकी मुलाकात भारत-प्रसिद्ध वैद्य पं० शिव शर्मा से हुई और शर्माजी ने इच्छा प्रकट की कि दिनकरजी आयुर्वेद के अनुसार अपनी चिकित्सा कराएं। दिनकरजी बोले—लेकिन शर्माजी, मेरा विचार है कि भैंस बीमार पड़े तो वैद्य को बुलाना चाहिए; चिड़िया बीमार पड़े तो होम्योपैथिक इलाज ठीक रहेगा; मगर आदमी के लिए तो बस ऐलोपैथी ही ठीक है।

लेकिन यह केवल विनोद के लिए विनोद ही था। औषध शुद्ध मिले तो दिनकरजी आयुर्वेद को भी लाभदायक मानते हैं।

एक और कहानी सरस्वती में छपी थी जो काफी मज़ेदार है। दिनकरजी जिस गांव के हैं, उसके पास बारो नामक एक दूसरा गांव है जो बेवकूफी के लिए उतना ही मशहूर है जितना उत्तरप्रदेश का भुईगांव नामक गांव। कहते हैं बारो के किसान एक बार खेत से कौओं को भगाते-भगाते दूसरे गांव तक चले गए और वहां के लोगों से लड़ने पर आमादा हो गए कि अपने कौओं को तुम क्यों नहीं रोकते ? वे हमारी मकई खा जाते हैं।

ऐसा ही एक बदनाम परगना बेतिया (चंपारन ज़िला) में भी पड़ता है, जिसका नाम मझौआ है। एक बार दिनकरजी की नियुक्ति बेतिया में हुई। थोड़े दिनों के बाद ही उनके मित्रों ने एक गज़ल लिखी जिसमें यह कहा गया था कि, वैसे आप आदमी तो खूब हैं, लेकिन आपकी बातचीत और चाल-ढाल से आपके वतन की बू आती है अर्थात् बारो की बेवकूफी आपमें आशकार है। गज़ल

---

१. 'देश-विदेश'—दिनकर

जोड़नेवाले मित्र मझौआ के थे, अतः दिनकरजी ने गजल की पीठ पर फौरन यह रुबाई लिख दी :

यह ठीक है, बारो के वे हौआ चले गये,
जो हाँकते थे रात-दिन कौआ, चले गये।
पूछा जो चित्तरगुप्त से, बारो का क्या हुआ ?
बोला कि सभी लोग मझौआ चले गये।

रुबाई जब दोस्तों को मिली, वे कटकर रह गए !

कभी-कभी लोग उन्हें अहंकारी भी समझ लेते हैं, किन्तु उनके सभी मित्र जानते हैं कि उनका स्वाभिमान अहंकार की सीमा से काफी दूर है। रुई भी दबते-दबते एक ऐसी जगह पहुंच जाती है जहां वह और दबाई नहीं जा सकती। दिनकर अब उसी दौर से गुज़र रहे हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने शायद सच ही लिखा है, संघर्षों ने दिनकर को कठोर बना दिया।

वर्माजी की यह उक्ति भी बड़ी ही सटीक है कि दिनकर के सबल व्यक्तित्व के कारण उनका रसक्षेत्र सुस्पष्ट हो जाता है। जैसे पन्तजी को देखते ही कोमलता और संयम का प्रभाव उत्पन्न होता है, वैसे ही निराला और दिनकर के दर्शन-मात्र से पौरुष और प्रभुत्व की याद आती है।

स्वभाव से दिनकर ईमानदार हैं। पहली नज़र में वे किसीको भी अविश्वसनीय नहीं मानते, किन्तु धोखा खाने पर वे अपनी पीड़ा छिपाते भी नहीं हैं। उनमें वह नकली विनम्रता नहीं है जो सबको खुश रखकर चलनेवालों में होती है; न उनमें व्यवहार-कुशलता इस हद तक पहुंच पाई है कि हृदय को रोक रखने की शक्ति पैदा हो गई हो, जो एक प्रौढ़, अनुभवी व्यक्ति में बहुत अस्वाभाविक न होती। उनके स्वभाव की जो झांकी श्री भगवतीचरण वर्मा ने अंकित की है, उसे मैं बहुत कुछ सही मानता हूं। वर्माजी ने लिखा है—कलाकार की हैसियत से दिनकर को मैं सबसे अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता हूं। दिनकर अपनी भावनाओं की सीमा छोड़ने को कहीं भी तैयार नहीं, कहीं भी आरोपित विश्वासों एवं मान्यताओं का सहारा दिनकर ने नहीं लिया। दिनकर को संघर्षों से मोह है जैसे। और किसी भी स्थल पर दिनकर संघर्षों से ऊपर नहीं उठ पाते।

हिन्दी कविता के छायावादोत्तर युग की सबसे बड़ी घटना दिनकर और बच्चन का आविर्भाव थी। जब खड़ीबोली अन्ततोगत्वा कविता की भाषा बन गई, हिन्दी कविता से वह कोमलता छूट गई जो तीन सौ वर्षों की साधना से उसे सुलभ हुई थी। यह स्वाभाविक था, इसलिए इसपर आंसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। खड़ीबोली को पहले युग की हिन्दी कविता (तब गद्य-साहित्य था ही नहीं) के मुकाबले में बिलकुल दूसरा ही भाग अदा करना था। पर हिन्दी के कवि कहां तक नये युग की इस मांग के लिए तैयार थे यह सन्दिग्ध है। छायावाद-युग के कवि प्राचीन हिन्दी कविता के उक्त खोए हुए गुण को फिर से प्राप्त करने में समर्थ हुए, पर किन मूल्यों पर ? छायावाद बहुत बारीक कातने में भटक गया, काव्यरसिक जनता उससे निराश होने लगी। निराशा के कुछ खास कारण ये थे कि जनता स्वाधीनता-संग्राम में जूझ रही थी, किन्तु छायावादी कवि कल्पना से किलोलें कर रहे थे ; जनता तो पूंजीवाद और उसके सबसे विकसित रूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आशा, उत्साह और कर्मठता के लिए प्रेरणा खोज रही थी और छायावादी कवि आंसू ढार-ढारकर विषाद, रोगग्रस्त प्रेम, विरह और निराशा के गीत गा रहे थे। आलोचक छायावादी काव्य से उतने निराश नहीं थे, किन्तु जनता और काव्य के बीच जो संबंध होना चाहिए, उसका निर्वाह सिर्फ उन कवियों की कविताएं कर रही थीं जिनका प्रधान स्वर राष्ट्रीय था। "छायावादी युग में पाठकों के बीच हिन्दी कविता की बहुत कुछ प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं ने रखी।"[1] दिनकरजी की यह उक्ति बहुत ही सही है।

दिनकर का उदय उस धारा से हुआ जो भारतेन्दु, मैथिलीशरण, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन से होकर बहती आ रही थी। बच्चन उस धारा से निकले जो पन्त और महादेवी, विशेषतः महादेवी, में दृष्टिगोचर हुई थी। दोनों ही कवि उर्दू काव्य से प्रभावित थे। बच्चन के गीतों में गजल की खूबियों ने झलक मारी और दिनकर में हाली, चकबस्त और इकबाल की तेजस्विता जगमगा उठी। दिनकर की रसग्राहिणी शिराएं संस्कृत और बंगला से भी संपृक्त थीं, अतएव एक ओर

---

१. 'मिट्टी की ओर'—दिनकर

जहां उनमें कालिदास और रवीन्द्र का प्रभाव पहुंचा, वहां दूसरी ओर काज़ी नज़रुलइस्लाम का आक्रामक और संक्रामक गर्जन और सिंहनाद भी उनकी आवाज़ की शिंजिनी में आ मिला। नज़रुल, जोश और दिनकर, भारत की क्रान्तिकारी कविता के वृहत्त्रयी के कवि हैं और इन तीनों कवियों का स्वर बहुत कुछ समान रहा है। तीनों में ढूंढ़नेवाले को एक ही तरह की कमियां मिलेंगी, ऐसी कमियां जो युग तथा ये कवि जिस वर्ग से आए, उसे देखते हुए अनिवार्य थीं। जब दिनकर पूर्ण रूप से उदित हुए, नज़रुल की अग्निवीणा मौन हो रही थी। किन्तु जोश जब पहले-पहल दिनकर से मिले, उन्होंने बेसाख्ता एक रुबाई कही जो 'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियां'[1] नामक ग्रन्थ में संचित है। वह रुबाई यह है :

हिन्द में लाजवाब हैं दोनों,
शायरे-इन्क़लाब हैं दोनों,
देखने में अगर्चे ज़र्रे हैं,
वाक़ई आफताब हैं दोनों।

दिनकर और बच्चन के आविर्भाव को मैंने महान घटना कहा है, क्योंकि इन दोनों कवियों के आविर्भूत होते ही काव्यरसिक जनता में कविता के लिए जो उत्साह उमड़ पड़ा, वह पहले कभी नहीं जगा था। इनके साथ-साथ हिन्दी कविता कुछ काव्यामोदी लोगों की सम्पत्ति-मात्र न रहकर जनता में उतर आई और जनता अपनी बारी में उसमें उतर गई।

सन् १९३५ ई० में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने पटना जाकर यह घोषणा की कि यदि दिनकरजी अफ्रीका में जनमे होते तो उनसे मिलने को मैं अफ्रीका भी चला जाता। छायावाद के तत्कालीन एक अग्रणी कवि पं० जनार्दन-प्रसाद झा द्विज ने अपनी 'चरित्र-रेखा'[2] नामक पुस्तक में लिखा, "ऐसे बहुत-से पाठक हैं जो दिनकर की कविताएं पढ़कर और कुछ पढ़ना आवश्यक नहीं समझते।" हिमालय, नई दिल्ली, ताण्डव, दिगम्बरी, हाहाकार, विपथगा और अनल-किरीट, ये कविताएं एक समय जनता को बेतरह झकझोर डालती थीं। यही नहीं,

---

१. संपादक—प्रोफेसर कपिल
२. प्रकाशक—पुस्तक-भंडार, पटना

बल्कि उन्हें सुनकर बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेता सभाओं में फूट-फूटकर रोने लगते थे[1] और बूढ़े भी सभाओं में खड़े हो जाते थे।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविताएं उच्च कोटि की होती आई थीं, यदि यह कहा जाए तो शायद अत्युक्ति समझी जाए, पर परिमाण में वे अन्य भाषाओं की अपेक्षा कम नहीं थीं। किन्तु आज़ादी की लड़ाई में लगे हुए बलिदानी भारत की जो वीरता, जो स्वाभिमान, जो अधीरता और आक्रोश दिनकर में आकर प्रकट हुआ, कला के रूप में उसका विस्फोट पहले उतने ज़ोर से नहीं हुआ था। उदय के साथ ही दिनकर का स्थान हिन्दी के क्रान्तिकारी कवियों में बन गया और काव्यलोभी जनता उनके प्रत्येक स्वर को अपने कंठ में बसाने लगी।

दिनकरजी को जनता का प्यार राष्ट्रीय कविताओं के कारण मिला, सम्मान उन्हें 'कुरुक्षेत्र' नामक महाकाव्य से प्राप्त हुआ और श्रद्धा के भाजन वे 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक गद्य-ग्रंथ लिखकर हुए। उनके सुयश के प्रसार में उनके 'रश्मिरथी' नामक खंडकाव्य का भी बड़ा हाथ है, जो शहरों से अधिक ग्रामों में कहीं अधिक उत्साह के साथ पढ़ा जा रहा है।

एक जगह उन्होंने लिखा है—सुयश तो मुझे 'हुंकार' से मिला, लेकिन आत्मा मेरी 'रसवंती' में बसती है।

'रसवंती' दिनकरजी के शृंगार-काव्य अथवा रस-गीतों का संग्रह है जो 'हुंकार' के तुरन्त बाद १९४० में निकली थी। उस धारा का पूरा विकास उनके नवीन काव्य 'उर्वशी' में हुआ है। इसकी पूरी संभावना है कि 'उर्वशी' दिनकरजी की अब तक की काव्यकृतियों में सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ समझी जाए। हिन्दी में प्रौढ़ शृंगार की यह एक बेजोड़ कविता है।

'हुंकार' की भूमिका में दिनकर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए बेनीपुरीजी ने एक सूक्ति कही थी, "अंगारे, जिनपर इन्द्रधनुष खेल रहे हैं। रेणुका, हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में दहकते अंगारों का तेज है। इन्द्रधनुषी रंग रसवन्ती में छिटका था। उर्वशी में वह मध्याह्न सूर्य के उभार पर पहुंच गया है।

"दिनकर का समस्त जीवन संघर्ष का रहा है और, इसलिए, संघर्ष दिनकर

---

१. बिहार प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन में दिया हुआ दिनकरजी का अध्यक्षीय भाषण

के जीवन का मुख्य भाग बन गया है । इन संघर्षों में दिनकर को सफलता भी मिली है, इसलिए संघर्ष की कटुता से दिनकर का व्यक्तित्व विशृंखल और लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ, दिनकर के अन्दरवाली सात्त्विकता और कल्याण की भावना को ठेस नहीं पहुंची । लेकिन इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इन संघर्षों ने दिनकर को किसी हद तक कठोर अवश्य बना दिया है ।

" दिनकर संसद् में राज्यसभा के सदस्य हैं और वहां उन्होंने हिन्दी भाषा के लिए लगातार प्रयत्न किया है । पर सफल व्यक्तित्ववाले स्वाभाविक सन्तुलन को उन्होंने एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ा ।

" दिनकर उन्मुक्त स्वभाव के व्यक्ति हैं...उनका मुख्य गुण है भावना की अभिव्यक्ति । कला का साज-सिंगार उनमें नहीं है । अनुभूति-जनित तीव्र भावना ही उनका क्षेत्र है । कला का क्षेत्र साज-सिंगार हो सकता है, लेकिन भावना को हमेशा से कला में प्रमुख स्थान मिला है, क्योंकि यह भावना ही तो कला का प्राण है ।

" ......'और सबके साथ मुझे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दिनकर हमारे इस युग के यदि एकमात्र नहीं तो सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं । "

रामधारीसिंह दिनकर का जन्म १३१६ साल (बंगाल और बिहार में प्रचलित फसली संवत्) के आश्विन मास में नवरात्र के भीतर बुधवार की रात्रि में हुआ था । गणकों के अनुसार यह तिथि १९०८ ई० के ३० सितम्बर को पड़ी थी । उनका जन्म सिमरिया नामक ग्राम में हुआ जो मुंगेर जिले में गंगा के उत्तरी तट पर अवस्थित है । यह वह स्थान है जहां से वाजितपुर थोड़ी ही दूर है । कहते हैं, इसी वाजितपुर में विद्यापति ने शरीर छोड़ा था ।

दिनकरजी के पिता साधारण, अत्यन्त साधारण स्थिति के किसान थे । उनका स्वर्गवास उस समय हो गया जब दिनकरजी केवल दो साल के थे । दिनकरजी तीन भाइयों में से मंझले हैं । उनका लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध उनकी विधवा माता ने किया । दिनकरजी की प्राथमिक शिक्षा गांव में ही हुई, मैट्रिक की परीक्षा उन्होंने गांव के पास मोकामाघाट के हाई स्कूल से १९२८ में पास की और बी० ए० उन्होंने पटना कालेज से १९३२ में किया । वे उस समय ग्रेजुएट हुए जब आनर्स के साथ पास करनेवाले मेधावी युवक

आसानी से अच्छी नौकरियां प्राप्त कर लेते थे। उनके भीतर कवित्व छात्र-जीवन में ही भली भांति प्रस्फुटित हो चुका था, पर उनकी ज़िन्दगी उनके परिवार के नाम गिरवी हो चुकी थी। निर्धन परिवार ने पेट काटकर उन्हें पढ़ाया था और यह आवश्यक था कि वे पैसे कमाकर उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें। उन दिनों प्रतियोगी-परीक्षाएं तो होती नहीं थीं, डिप्टीगिरी खासकर उन्हें मिलती थी जिनकी मदद बड़े लोग करते हों। लेकिन इन बड़े लोगों ने दिनकरजी की ओर ध्यान नहीं दिया। निदान, १९३३ में उन्होंने एक नये हाई स्कूल के प्रधानअध्यापक का पद कबूल कर लिया और वे यथाशक्ति परिवार की सेवा करने लगे। कोई आश्चर्य नहीं कि जीवन के उषःकाल में ही वे ज़मींदारी-प्रथा के विरुद्ध हो गए। ज़मींदारी-प्रथा और धनतंत्र के खिलाफ उनकी कविताओं में जो कटुता व्यक्त हुई, उसके मूल में बहुत कुछ वैयक्तिक अनुभव ही है।

१९३४ ई० में उन्होंने बिहार सरकार के अधीन सब-रजिस्ट्रारी स्वीकार की। १९४३ में उनका तबादला युद्ध-प्रचार-विभाग में हुआ। १९४७ में वे बिहार सरकार में प्रचार-विभाग के उपनिर्देशक और १९५० में मुज़फ्फरपुर कालेज में हिन्दी-विभागाध्यक्ष हुए। यह क्रम १९५२ के मार्च तक चलता रहा। १९५२ के १० मार्च को उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया और वे राज्यसभा के कांग्रेसी सदस्य हो गए। तब से वे इसी पद पर रहकर हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने लिखा है, "दिनकर हमारे युग के यदि एकमात्र नहीं तो सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं।" किन्तु अचरज की बात है कि इस कवि के जीवन के सर्वोत्तम दिन और उन दिनों के भी सर्वोत्तम भाग ज़रूरतमन्द परिवार के लिए रोटी कमाने में निकल गए। दिनकरजी भी विलाप करते हैं, "साहित्य समझने और लिखने का मुझे समय कब मिला? दिन तो नौकरी में जाता था, हां, जिस समय अफसर बैडमिंटन या ताश खेलते थे, उस समय घर में बन्द होकर मैं पंक्तियां जोड़ता था। ऐसी अधूरी कविताएं भी मेरी कापियों में बहुत हैं जिनकी दो-चार पंक्तियां ही लिखी जा सकीं, क्योंकि दफ्तर जाने का समय निकट आ पहुंचा और मैं कविता पूरी नहीं कर सका।"

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्दर कवियों, चिन्तकों और कलाकारों का जो बुरा

हाल होता है, जवानी-भर दिनकरजी उसी बुरे हाल में रहे। नौकरी की खटखट रोटी की चिन्ता, भतीजियों और बेटियों के व्याह के लिए दर-दर की ठोकरें और हर रोज़ नये अभावों से संघर्ष, यह वह वातावरण नहीं है जिसमें कवि का आन्तरिक व्यक्तित्व खिल सकता हो। फिर भी, दिनकरजी की प्रायः सभी कविताएं इसी वातावरण में लिखी गईं। यदि आरम्भ से ही जनता का प्यार उन्हें न मिला होता, तो इस दमघोंटू वातावरण में उनका कवि जीवित भी रहता या नहीं, इसमें काफी सन्देह है। जनता के इसी प्रेम के कारण दिनकर का हृदय उस आग से नहीं जला, जो द्वेष करनेवालों की ओर से उनपर सदैव बरसाई जाती रही है।

इससे भी अचरज की बात यह है कि हिन्दी का वही कवि अंग्रेजी सरकार की मातहती में फंस गया जिसके भीतर से भारत की राष्ट्रीयता अपनी सबसे निर्भीक आवाज़ उठानेवाली थी। अंगरेज़ों के अधीन रहने पर भी दिनकरजी ने अपनी आवाज़ को नहीं रोका, यह उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की विशेषता थी और जनता जो उन्हें अपना प्यार देती रही, उसका भी यही कारण था कि हमारा एक कवि पेट और परिवार-पालन की विवशता में नौकरी में फंस गया है, फिर भी वह हमारा काम काफी निर्भीकता से कर रहा है।

नौकरी के ये दिन अमन-चैन से नहीं बीते। स्वयं दिनकरजी से खोद-खोदकर पूछने पर मुझे जिन बातों का पता लगा वे काफी दिलचस्प हैं। स्कूल की मास्टरी छोड़कर जब दिनकरजी सब-रजिस्ट्रारी में जाने लगे तब उनके परम मित्र रामवृक्ष बेनीपुरी ने उनके इस इरादे का विरोध किया था। पर जब वे नौकरी में चले गए, राजेन्द्रबाबू (अब राष्ट्रपति) ने बनारसीदासजी चतुर्वेदी से कहा था—दिनकरजी को दो में से एक का त्याग करना पड़ेगा, या तो कविता का, या नौकरी का।

किन्तु दिनकरजी ने कविता और नौकरी दोनों को साथ रखा। इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों से वे केवल जूझना ही नहीं, समझौता करना भी जानते हैं। यहां फिर वर्माजी की एक बात याद आती है। दिनकरजी में समझौते की प्रवृत्ति है और इसी प्रवृत्ति से विविध संघर्ष झेलकर वे इतनी दूर तक आ सके हैं।

१९३५ में दिनकरजी ने बिहार प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के साथ होनेवाले कवि-सम्मेलन का सभापतित्व किया था। यह सम्मेलन छपरा में हुआ था

और उस सम्मेलन में सरकार के विरुद्ध कई कविताएं पढ़ी गई थीं। एक कविता श्री ललितकुमारसिंह नटवर ने भी पढ़ी थी, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित श्वेतपत्र के बारे में थी। सम्मेलन के बाद सरकार ने दिनकरजी से कैफियत तलब की कि (१) इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के पूर्व तुमने सरकार से अनुमति क्यों नहीं मांगी और (२) सभापति की हैसियत से तुमने कवियों को सरकार के विरुद्ध कविताएं पढ़ने से क्यों नहीं रोका ?

दिनकरजी ने जवाब दिया, सांस्कृतिक सभाओं में जाने के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता मैंने नहीं समझी और कवियों को यदि मैं कविताएं पढ़ने से रोकता, तो जनता उनकी ओर और भी आकृष्ट होती। सरकार ने कदाचित् अन्तिम तर्क का उपयोग दिनकरजी के सम्बन्ध में किया और शायद इसीके फलस्वरूप उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की।

१९३५ में ही 'रेणुका' जब पहले-पहल निकली, हिन्दी-संसार ने तुरन्त उसे सर-आंखों पर उठा लिया। विशाल भारत ने संपादकीय लिखा, "रेणुका के प्रकाशन पर हिन्दीवालों को उत्सव मनाना चाहिए।" माधुरी में प्रकाशित एक लेख में रेणुका की गणना हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ सौ पुस्तकों में की गई और बिहार के हिन्दी और अंग्रेज़ी, दोनों ही भाषाओं के पत्रों ने उसका स्वागत बड़े ही उत्साह से किया।

इससे सरकार के कान खड़े हो गए। फिर क्या था, सेक्रेटेरियेट में 'रेणुका' का अंग्रेज़ी अनुवाद तैयार किया गया और दिनकरजी को फिर चेतावनी दी गई। यह चेतावनी मुज़फ्फरपुर के जिला मैजिस्ट्रेट मिस्टर बौस्टेड के द्वारा दिलवाई गई थी।

बौस्टेड ने पूछा—क्या आप रेणुका के लेखक हैं ?

दिनकरजी ने स्वीकार किया। बौस्टेड बोले—आपने सरकार-विरोधी कविताएं क्यों लिखीं ? पुस्तक प्रकाशित करने के पूर्व आपने सरकार से अनुमति क्यों नहीं मांगी ?

दिनकरजी ने कहा—मेरा भविष्य साहित्य में है। अनुमति मांगकर किताबें छपवाने से मेरा भविष्य बिगड़ जाएगा। और मेरा कहना यह है कि रेणुका की कविताएं सरकार-विरोधी नहीं, मात्र देशभक्तिपूर्ण हैं। यदि देशभक्ति अपराध हो, तो मैं वह बात जान लेना चाहूंगा।

वौस्टेड ने कहा—देशभक्ति अपराध नहीं है और अपराध वह कभी नहीं होगी। पर आप समझकर चलें।

दिनकरजी के विरुद्ध एक बार फिर कोई कार्रवाई नहीं हुई।

इसके बाद जब हुंकार प्रकाशित हुआ, सरकार के कान फिर खड़े हो गए। इस बार चेतावनी मुंगेर के ज़िला मैजिस्ट्रेट के द्वारा दिलवाई गई। उस समय मुंगेर के ज़िला मैजिस्ट्रेट रायबहादुर विष्णुदेव नारायण सिंह थे, जो अब रांची विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। ब्रिटिश सरकार के अधीन कुछ ऐसे भी भारतीय अफसर थे जो भीतर ही भीतर राष्ट्रीयता के पूरे हामी थे। विष्णुदेव नारायण सिंह ने दिनकरजी से कहा—यह रोज़-रोज़ का टंटा क्यों किए चलते हैं? सरकारी अफसरों के लिए यह अच्छा नहीं है कि उनके पीछे खुफिया लगे फिरें। सरकार से अनुमति लेकर किताबें प्रकाशित करवाइए और नौकरी को निरापद रखिए।

दिनकरजी ने कहा—मेरे सिर पर गरीब परिवार का भारी बोझ है। मैं नौकरी छोड़ने की स्थिति में नहीं हूं। और अनुमति मांगूंगा तो फिर कविता लिखने से क्या लाभ? कहिए तो कविता लिखना ही छोड़ दूं।

इसपर ज़िला मैजिस्ट्रेट बोले—अरे, कविता न लिखने से तो देश का ही नुकसान होगा। मुझे जो कुछ कहना था, मैंने कह दिया।

एक इसी प्रकार की मुसीबत १९४० में तब आई, जब गांधीजी इस दुविधा में पड़े थे कि आन्दोलन छेड़ा जाए या नहीं। उस समय बेनीपुरी और मथुरा-प्रसाद मिश्र (अब संसद्-सदस्य) 'जनता' नामक साप्ताहिक निकालते थे। उस पत्र का कोई विशेषांक निकलनेवाला था। अतएव बेनपुरीजी ने दिनकरजी को तार दिया कि कोई कविता तुरंत भेजो। दिनकरजी ने गांधीजी की द्विधा पर एक ज़ोरदार कविता लिखी और उन्हें आन्दोलन छेड़ने को प्रेरित किया।[1] इस बार कविता प्रत्यक्ष रूप से सरकार के विरुद्ध थी, इसलिए लेखक की जगह उसमें दिनकर नहीं, बल्कि, अमिताभ नाम दिया गया था। किन्तु मथुरा बाबू के नाम जो पद्यबद्ध पत्र था उससे दिनकरजी का नाम प्रकट हो जाता था:

---

१. यह कविता वर्तमान संग्रह में मौजूद है। उसका शीर्षक है 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल, बोल!'

यह तो दिनकर का कृत्य नहीं,
अमिताभ देव का दुष्ट कर्म।

संकेत यह था कि इसे दिनकर नहीं, अमिताभ के नाम से छापो। लेकिन यह लिफाफा डाकघर से सीधे सरकारी दफ्तर में पहुंच गया और 'जनता' आफिस में वह तब भेजा गया जब उसका फोटो लिया जा चुका था।

कविता 'जनता' में अमिताभ नाम से ही छपी, पर कोई महीने-भर बाद दिनकरजी के कानों में यह बात पहुंची कि कविता सेंसर हुई है। यह सूचना उन्हें पंडित केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' से मिली थी जो बिहार के प्रसिद्ध कवि हैं और पुलिस विभाग में नौकरी करते हैं। लेकिन जानते हुए भी यह खबर बेनीपुरीजी ने दिनकरजी को नहीं भेजी। उलटे मोतीहारी किसान-सम्मेलन में भेंट होने पर दिनकरजी ने जब यह बात चलाई तब बेनीपुरीजी बोले—अरे, नौकरी छूट गई तो हमारे गिरोह में आ मिलना। हम तो चाहते ही हैं कि तुम्हारी नौकरी छूट जाए।

लेकिन नौकरी तब भी नहीं छूटी। सरकार ने फिर एक चेतावनी भिजवाई। इस बार दिनकरजी के ज़िला मैजिस्ट्रेट खान बहादुर अमीर थे, जो अब अवकाश लेकर हज़ारीबाग में रहते हैं। अमीर साहब से बात होने पर दिनकरजी ने कहा—गुमनाम चीज़ की जवाबदेही मुझपर क्यों डाली जाती है?

अमीर साहब हंसकर बोले—आपका बचपना नहीं जाएगा। बिना प्रमाण के चेतावनी नहीं दी जाती। ज़रा संभलकर चला कीजिए।

और बात वहीं खत्म हो गई। अवश्य ही ज़िला मैजिस्ट्रेट ने दिनकरजी की रक्षा की होगी।

सरकार ने दिनकरजी को नौकरी से तो नहीं निकाला, लेकिन तकलीफ उन्हें काफी दी गई; जिसका एक रूप यह रहा कि चार साल के अन्दर उनके तबादले बाईस बार किए गए। 'कल्पना' में प्रकाशित अपने एक संस्मरण में दिनकरजी ने लिखा है, "घबराहट में आकर कई बार मैंने सोचा कि नौकरी अब छोड़ दूं। किन्तु तीन बातें थीं, जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका। पहली तो यह कि नौकरी छूट गई तो परिवार खाएगा क्या? दूसरी यह कि हर तबादले के साथ मुझे चार-छः दिनों की छुट्टियां मिल जाती थीं, जिन्हें मैं जायसवाल-जी के सान्निध्य में बिताने को पटना चला आता था। और तीसरी यह कि

जयप्रकाशजी बरावर यह शह देते रहते थे कि इस्तीफा देने की अपेक्षा बरतरफ हो जाना ही श्रेष्ठ है।"

दिनकरजी स्वयं नौकरी छोड़ने को तैयार नहीं थे। यदि वे बतरतफ कर दिए गए होते, तो इससे अंग्रेजों की निन्दा तो होती, पर उससे दिनकरजी का अपरिमित उपकार हुआ होता जो जयप्रकाशजी और वेनीपुरीजी का लक्ष्य था। किन्तु दिनकरजी का सौभाग्य इस सुयश से खाली रह गया और युद्ध के दो-तीन साल बीत जाने पर अंग्रेज़ी सरकार ने उनका तबादला युद्ध-प्रचार-विभाग में कर दिया।

दिनकरजी के जीवन में यह विरोधाभास क्यों आया, इसकी ठीक व्याख्या नहीं मिलती। गांधीजी की आन्दोलन-सम्बन्धी दुविधा से वे अधीर थे। आंदोलन छेड़े जाने के पक्ष में उन्होंने विद्रोहात्मक कविता लिखी थी जिसके कारण सरकार को उन्हें चेतावनी देनी पड़ी थी। सन् बयालीस का आन्दोलन जब दबने लगा तब उन्होंने 'आग की भीख' नामक वह ज्वलन्त कविता छपवाई जिसमें समरलग्न भारत की विवशता और तड़प का बड़ा ही आकुल आख्यान मिलता है:

बेचैन हैं हवाएँ, हर ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है।
मँझधार है, भँवर है या पास है किनारा,
यह नाश आ रहा या सौभाग्य का सितारा?
तमवेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ,
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।
आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बलपुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है।
निर्वाक् है हिमालय, गंगा डरी हुई है,
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ,
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।
गति में प्रभंजनों का आवेग फिर सबल दे,
इस जाँच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, अचल दे।

हम दे चुके लहू हैं, तू देवता, विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
उन्माद-बेकली का उत्थान माँगता हूँ,
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(१९४३ ई०)

१९४३ में देश जिस पीड़ा में छटपटा रहा था, इस कविता में उसका पूरा खाका उतर आया है। किन्तु इस दर्द को वही कवि लिख सकता था जिसके तार देश की छाती से लगे हों।

फिर उनकी वह कविता छपी जिसमें उन्होंने सत्याग्रहियों को यह आश्वासन दिया था कि उनकी विजय समीप है। लक्ष्य के पास आकर थककर बैठ जाना वीरों का काम नहीं होता :

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है,
थककर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।
अपनी हड्डी की मशाल से हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
एक खेय है शेष, किसी विधि पार उसे कर जाओ,
वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
आकर इतना पास फिरे वह सच्चा शूर नहीं है,
थककर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।

(सामधेनी)

देश जितनी कुर्बानियां कर चुका था, उन्हें दिनकरजी ने इस कविता में यथेष्ट माना था और उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि भगवान भारत की और अधिक परीक्षा नहीं लेंगे। अचरज की बात है कि उनकी यह भविष्यवाणी भी सच ही निकली :

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य-प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया वह फूल खिलाएगी ही,
अम्बर पर घन बन छाएगा ही उच्छ्वास तुम्हारा।

और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रूर नहीं है,
थककर बैठ गए क्या भाई, मंज़िल दूर नहीं है।

(सामधेनी)

१९४५ में ही उन्होंने 'दिल्ली और मास्को' नामक वह विख्यात कविता लिखी जिसमें मास्को की वन्दना उसी निष्ठा और श्रद्धा के साथ की गई जिससे हिन्दू काशीधाम और मुसलमान मक्काशरीफ की करते हैं, साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवादियों पर कुछ थोड़ा आक्षेप है कि उन्होंने सन् बयालीस की क्रांति का साथ क्यों नहीं दिया। यह कविता दिनकरजी के उस समय के राजनीतिक विचारों की कुंजी है। वे साम्यवाद की प्रशंसा करते हैं, मास्को को 'लाल भवानी' कहकर पुकारते हैं और देश-देश में घटित होनेवाली साम्यवादी क्रान्तियों का स्वागत करते हैं। यह कविता ठीक उसी शैली में है जिसमें नई दिल्ली की रचना की गई थी, वल्कि आरंभिक पंक्तियों में भाषा और भाव का संयोग देखते ही बनता है :

जय विधायिके अमर क्रांति की, अरुण देश की रानी।
जवाकुसुम-धारिणि, जग-तारिणि, जय नव शिवे ! भवानी !
अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की
शिखा रुद्र, मतवाली जय हो।
जगज्ज्योति, जय-जय, भविष्य की राह दिखानेवाली।
जय समत्व की शिखे, मनुज की प्रथम विजय की लाली !
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले।
छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बन्धन की कड़ियां
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियां।

(सामधेनी)

किन्तु दिल्ली की याद आते ही कवि को भारतीय साम्यवादियों की नीति से क्लेश का अनुभव होता है। उसके हृदय पर चोट लगती है कि जो लोग मास्को की वीरता के इतने प्रशंसक हैं, वे दिल्ली के सत्याग्रहियों का साथ क्यों

नहीं देते ?

एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता
से हो रहा साम्य का कामी
चिल्लाते हैं 'विश्व ! विश्व !' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाए जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(सामधेनी)

दिनकरजी का मत था कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति किए विना साम्यवादी समाज की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि गुलामी के नीचे केवल भारत का गौरव ही दवा हुआ नहीं है, उसकी आर्थिक समृद्धि भी उसी पहाड़ के नीचे है :

नगपति के पद में जब तक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?
दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग वही है समता का अभिमानी।

(दिल्ली और मास्को ; सामधेनी)

सन् १९३९ से लेकर १९४५ तक दिनकरजी ने जो कुछ भी लिखा, उससे उनकी उग्र राष्ट्रीयता में कहीं भी कोई कमी नहीं दिखाई देती। फिर भी, सरकार ने उन्हें जहां बिठा दिया था वह राष्ट्र-विरोधी कामों की जगह थी। इससे निस्तार उनका तभी हो सकता था यदि वे नौकरी से इस्तीफा दे देते। पर गरीवी से भीत होकर वे उस जगह पर बने रहे और निन्दा, कुत्सा तथा कलंक की बातें सुनकर भी उन्होंने नौकरी नहीं छोड़ी। परिणामतः उनके व्यक्तित्व में वह सुगन्ध आने से रह गई जो विद्रोह की वाणी नहीं, बगावत में व्यावहारिक भाग लेने से आती है। चक्रवाल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

राजनीति में आने से मैं बचना चाहता था और अन्त तक मैं उससे बच भी गया।

बच तो वे गए, किन्तु इसकी उन्हें कुछ कीमत भी चुकानी पड़ी है जो स्पष्ट है।

युद्ध-प्रचार-विभाग ने चाहा कि प्रचार-साहित्य पर दिनकरजी का नाम जाया करे। पर इस मामले में वे बेदाग निकल गए और अपना नाम उन्होंने कहीं भी जाने नहीं दिया, न उस बीच उन्होंने ऐसी कोई कविता लिखी जिसकी भावधारा उनकी पहले की राष्ट्रीय कविताओं की भावधारा के विपरीत पड़ती हो। वे एक कलम से साहित्य और दूसरी कलम से फाइलें लिखते आए थे। वे दोनों कलमें यहां भी अलग ही रहीं। तलवार की धार पर उनकी यह निरन्तर यात्रा उनके व्यक्तित्व की खास चीज़ है।

फिरंगिया लोकगीत के विख्यात रचयिता और हिन्दी के कवि प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसादसिंह ने, जो दिनकरजी के खास मित्रों में से हैं, एक दिन दिनकर-जी से कहा—दिनकर, तुम्हारी निन्दा मुझसे सुनी नहीं जाती, और यहां रहने में अब कल्याण भी कहां रहा! लगता है, जापान इस देश पर भी कब्जा कर लेगा। तब क्या करोगे?

दिनकरजी ने कहा—जापान आया, तो मैं अन्त तक उसका विरोध करूंगा। क्या देश ने आन्दोलन इसलिए छेड़ा है कि वह फिर किसीका गुलाम हो जाए?

पर युद्ध जब समाप्ति के पास आया, उन्होंने उस निन्दित पद से हट जाने के लिए छुट्टियों के बहाने दो-दो बार इस्तीफे दिए, लेकिन इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ। सरकार ने कहा—यदि तुम बीमार हो तो आफिस मत आओ, घर पर ही रहकर कुछ थोड़ा काम करते रहो।

दिनकरजी घर पर ही रहने लगे और इसी क्रम में उन्होंने कुरुक्षेत्र काव्य पूरा कर लिया।

उन्होंने अपनी तत्कालीन मनोदशा की व्याख्या करते हुए बताया—रूस के आने से युद्ध का रूप बदल गया, इस प्रचार का मुझपर असर पड़ा था। यदि मैं स्वयं ही युद्ध का समर्थक नहीं हो गया होता, तो अंगरेज मेरा तबादला युद्ध-प्रचार-विभाग में नहीं करते। फिर मैं यह भी समझता था कि यही मौका है

जब देश गुलामी का खूंटा तोड़कर भाग सकता है। रूस का मैं परम प्रशंसक रहा था, जैसे प्रशंसक मेरे अन्य साथी-संगी भी थे। नौकरी में रहने के कारण मैं अपनी माप सरकारी नौकरों को मापनेवाले गज़ से करता था। पर साम्यवादी तो खुली राजनीति में थे। उन्होंने जब आन्दोलन का साथ नहीं दिया, तब इस बात से मुझे चोट लगी। मेरी 'दिल्ली और मास्को' नामक कविता को समझने की यही कुंजी है।

दिनकरजी की व्यथा फटे हुए व्यक्तित्ववाले मनुष्य की व्यथा थी और जो भी व्यक्ति सरकारी नौकरी में जाता है, वह इस फटे व्यक्तित्व का शिकार होने से कदाचित् ही बच पाता है। दुःख है कि दिनकरजी भी उसके अपवाद नहीं हो सके।

और सरकारी नौकरी के कारण यह हाल उस कवि का हुआ जो जनता का हृदयहार था। दिनकरजी ने 'नई दिल्ली' नामक अपनी विस्फोट-भरी कविता की रचना सन् १९३३ में की थी, यद्यपि वह कविता पहले-पहल १९३७ में प्रकाशित हुई, जब प्रान्तों में पहले-पहल कांग्रेसी सरकारें कायम हुई थीं। पर इन चार वर्षों के भीतर छिपे-छिपे ही वह कविता हिन्दी प्रान्तों में सर्वत्र पहुंच चुकी थी। १९३३ के ही अन्त में दिनकरजी ने हिमालय और तांडव नामक दो कविताएं लिखीं जिनमें भूकम्प का आह्वान था और १९३४ की १५ जनवरी को बिहार में सचमुच ही भयानक भूकम्प आ गया। यहां तक सुना गया कि उस समय लोगों में चर्चा चल पड़ी थी कि हो न हो, यह भूकम्प दिनकर की कविताओं से आहूत है। राहुल सांकृत्यायन ने किसी लेख में इस चर्चा का ज़िक्र किया था। दिनकरजी ने विपथगा नामक अपनी दूसरी क्रान्तिकारी रचना १९३८ में लिखी थी। उसमें एक पंक्ति आती है—अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग !

जब क्रान्ति १९४२ के अगस्त महीने में ही आ खड़ी हुई, दिनकरजी के एक मित्र, जो पुलिस सुपरिंटेंडेंट थे, उनसे कहने आए—दिनकर, क्या तुमने सपने में भविष्य देखा था ? विपथगा में तात्पर्य अगस्त्य ऋषि से था, किन्तु उसका मेल अगस्त महीने से भी बैठ गया। मध्यकाल में ऐसी ही उक्तियों को लोग शायद कवि की भविष्यवाणी समझा करते थे।

जो भी हो, सरकारी नौकरी की विवशता और गुलामी को झेलते हुए भी दिनकरजी ने राष्ट्रीयता का जो सुगंभीर, निर्भीक एवं रागात्मक उद्घोष किया,

वह विशेष द्रष्टव्य है। रेणुका, हुंकार और सामधेनी की कविताओं ने हिन्दी प्रान्तों में देशभक्ति की लहरें उठाने में वड़ा भारी योगदान दिया था और चूंकि ये कविताएं एक ऐसे कवि की लेखनी से आती थीं जो खुद सरकार के चंगुल में था, इसलिए उनकी अपील कुछ और ज़ोरदार थी। भारत के राष्ट्रीय कवियों में दिनकरजी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आचार्य शिवपूजनसहाय का यहां तक कहना है कि मैथिल-कोकिल विद्यापति के वाद विहार में इतना प्रतिभाशाली कवि कोई और नहीं हुआ था। पर दिनकर को हम केवल विहार का ही क्यों मानें? वे तो हिन्दी के भाल पर शोभित प्रकाश बिन्दु हैं। विहार हिन्दी-संसार की पूर्वी सीमा है। दिनकर सचमुच ही हिन्दी-संसार के दिनकर हैं।

दिनकरजी की पहली कविता सन् १९२४ या २५ में छपी थी जव जबलपुर का 'छात्रसहोदर' नामक मासिक पत्र श्री नरसिंहदास की संपादकता में दुबारा निकला था। १९२९ में वारदोली-संदेश नाम से उनके राष्ट्रीय गीतों का एक छोटा-सा संग्रह निकला, जिनकी रचना बारदोली-सत्याग्रह को लेकर की गई थी। मैट्रिक पास करने के पूर्व उन्होंने 'वीर वाला' और 'मेघनाद-वध' नामक दो अधूरे खंडकाव्य भी लिखे थे, जिनकी पांडुलिपियां अव अनुपलब्ध हैं। मैट्रिक करने के बाद उनका एक छोटा-सा खंडकाव्य 'प्रणभंग' नाम से निकला, जिसकी एक प्रति कवि के पास संचित है और जिसका उल्लेख रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में भी हुआ है।

लेकिन दिनकरजी के कवि-जीवन का वास्तविक आरम्भ सन् १९३० ई० से होता है, जब से उनकी कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में सर्वत्र छपने लगीं। और १९३५ में रेणुका के प्रकाशन के साथ तो वे हिंदी के उदीयमान कवि के रूप में सारे देश में विख्यात हो गए थे।

रेणुका, कुरुक्षेत्र, नील कुसुम और उर्वशी दिनकर-काव्य के चार मुख्य स्तम्भ हैं। रेणुका दिनकरजी की जवानी का उद्‌घोष है। उसकी कुछ कविताएं छायावाद की याद दिलाती हैं और कुछ उस दोपहरी के प्रकाश की जिसकी रचना कवि आगे चलकर करनेवाला था। यह प्रकाश पूर्ण रूप से हुंकार में प्रकट हुआ। भारतीय विद्रोह की वाणी के रूप में 'हुंकार' हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं में उल्लेख्य ग्रंथ है। कुरुक्षेत्र उन भावनाओं का

दर्शन प्रस्तुत करता है, जिनका विस्फोट रेणुका और हुंकार में हुआ था। कुरुक्षेत्र की रचना के पीछे उस द्वन्द्व का हाथ है जो हिंसा-अहिंसा को लेकर देश के अन्तर्मन में चल रहा था। काव्य जब तक समस्त राष्ट्र की अव्यक्त पीड़ा का माध्यम नहीं बनता, जनता उसे सिर-आंखों पर नहीं उठाती। कुरुक्षेत्र जब से प्रकाशित हुआ, वह बराबर जनता के द्वारा पढ़ा जा रहा है। उसका अनुवाद तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में भी निकला है। किन्तु केवल दर्शन कह देने से कुरुक्षेत्र के साथ पूरा न्याय नहीं होता। वह पराधीन भारत के क्रोध की कविता है, उसके प्रतिशोध का विस्फोट और गहन द्वन्द्वों का आख्यान है।

नील कुसुम की कविताएं सामाजिक उद्देश्यों को प्रधानता नहीं देतीं। उनकी भाषा बहुत मंजी हुई है और भाव काफी मर्मवेधी हैं, पर वे यह भी बताती हैं कि कवि का मन उस दिशा की ओर मुड़ रहा है, जिधर रसवंती का स्रोत था। फिर भी इस संग्रह की 'हिमालय का सन्देश' नामक कविता सामाजिकता से ओतप्रोत है। इस कविता का धरातल यद्यपि दार्शनिक हो उठा है, पर कवि की मुख्य चिन्ता यही है कि स्वाधीन भारत शान्ति-साधना के लिए क्या करे, वह व्यष्टि, समष्टि, प्रजासत्ता और अधिनायकवाद एवं हिंसा और अहिंसा के बीच समाधान कैसे प्राप्त करे।

रसवन्तीवाली धारा का महान विस्फोट उर्वशी काव्य में हुआ है। इसमें प्रेम और शृंगार के भावों का चित्रण अत्यन्त ऊंचे धरातल पर किया गया है। पुरूरवा वह मनुष्य है जो द्वन्द्वों से पीड़ित है। वह सुख भोगता है और सुख को छोड़ना चाहता है। वह नारी-प्रेम में पड़ता है और नारी का अतिक्रमण करना चाहता है। इसके विपरीत, उर्वशी देवी है, जिसमें कोई द्वन्द्व नहीं है। वह दैहिक सुख भोगने के उद्देश्य से पृथ्वी पर आई है। इन सारे द्वन्द्वों के एकत्र हो जाने से उर्वशी अत्यन्त गहन काव्य का कारण हो उठी है। पुस्तक के अन्त में सती नारी की अवतारणा करके दिनकरजी ने यह सन्देश दिया है कि नर-नारी-सम्बन्ध का समाधान सतियां ही लाती हैं, अप्सराएं नहीं।

राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रसिद्धि दिनकरजी को रेणुका से ही प्राप्त हो गई थी। हुंकार से उस प्रसिद्धि को प्रसार और व्यापक स्वीकृति-मात्र प्राप्त हुई। हुंकार की कविताओं से यह भी स्पष्ट हो गया कि छायावाद का पलायन-भाव हिन्दी के छायावादोत्तर कवियों को पसन्द नहीं था; कम से कम दिनकरजी ने तो

यह स्पष्ट कर दिया था कि कलाकार कहलाने के लिए यदि मात्र कल्पना में भटकना वांछनीय हो तो मुझे वह सुयश नहीं चाहिए। इससे अच्छा काम तो यह है कि कवि चारण और वैतालिक बन जाए।

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि !
बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर भूमि का
मैं चारण, मैं वैताली।

(हुंकार)

जहां तक शुद्ध क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रश्न है, हुंकार की कितनी ही पंक्तियां ऐसी हैं जिनके भीतर तत्कालीन युवकों की अदम्य उमग और वीरता के भाव अत्यन्त ओजस्वी रूप में प्रकट हुए हैं।

हटो व्योम के मेघ पन्थ से,
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध ! दूध ! ओ वत्स ! तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।

(हाहाकार)

स्वाधीनता की प्राप्ति और समाज से वैषम्य हटाकर सबके लिए सुख खोजने की जो उमंग उस समय देशवासियों के हृदय में लहर ले रही थी, उसका पूरा विस्फोट इस कविता में आ गया है।

सन् बयालीस के बहुत पूर्व ही दिनकरजी के भीतर यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि क्रान्ति अब समीप आ गई है और देश में विस्फोट होने ही वाला है। और उनका यह विश्वास उनकी उस समय की अनेक कविताओं में प्रकट हुआ था। ये सभी कविताएं यह पक्का प्रमाण उपस्थित करती हैं कि कवि के कान सीधे जनता के हृदय से लगे हुए थे और वातावरण में जो गर्मी भरती जा रही थी उसे वह क्षण-क्षण समझ रहा था :

दिशा गूंजी, सिहरता व्योम में उल्लास आया,
नये युग-देव का नूतन कटक, लो, पास आया।
पहन द्रोही कवच रण में युगों के मौन बोले,
ध्वजा पर चढ़ अनागत धर्म का हुंकार बोला।

नये युग की भवानी, आ गई वेला प्रलय की,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(दिगम्बरी)

अब की 'अगस्त्य' की बारी है, पापों के पारावार ! सजग,
बैठे, 'विसूवियस' के मुख पर भोले अबोध संसार, सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार, सजग,
दुनिया के वीरो, सावधान, दुनिया के पापी जार, सजग।
जानें किस दिन फुंकार उठें पददलित कालसर्पों के फण।

(विपथगा)

✓ ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
शैलराज, हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी, आज तप का न काल,
नवयुग-शंख-ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

(हिमालय)

ओ मदहोश, बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का,
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।
कल होगा इन्साफ, यहाँ किसने क्या किस्मत पाई है,
अभी नींद से जाग रहा युग, यह पहली अँगड़ाई है।

(अनल-किरीट)

फिर डंके पर चोट पड़ी है,
मौत चुनौती लिए खड़ी है,
लिखने चली आग, अम्बर पर कौन लिखाएगा निज नाम ?

(प्रणति)

हुंकार के बाद जब रसवन्ती निकली, प्रगतिवादी साहित्य के पक्षपाती दिनकरजी से निराश होने लगे। उन्हें लगा मानो दिनकर भी थककर कल्पना

थे वह बहुत कुछ ऐसी ही क्रान्ति थी—

> असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
> ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
> थर-थर करते कानून-न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
> भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
> सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।
>
> (विपथगा)

जिन दिनों हुंकार की रचना हुई, दिनकरजी बुद्धिवादी कम, भावनाशील अधिक थे। इसीलिए, कभी-कभी उन्होंने क्रान्ति का आवाहन केवल क्रान्ति के लिए भी किया था। हुंकार में ही एक कविता के भीतर निम्नलिखित पंक्तियां आती हैं जिन्हें अंधी क्रान्ति का स्तवन-मात्र समझा जा सकता है:

> स्वातंत्र्य! पूजता मैं न तुझे
> इसलिए कि तू सुख-शान्ति-रूप,
> हाँ, उसे पूजता जो चलता
> तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।
>
> (चाह एक)

किन्तु इसकी भी एक सार्थकता तो थी ही कि युवक विप्लव मचाने को उतावले हो रहे थे और सन्धि के रास्ते स्वराज्य प्राप्त करने की बात वे नहीं सोच सकते थे। किन्तु यह नियति का व्यंग्य है कि देश अन्त में संधि से ही स्वाधीन हुआ।

जहां तक क्रान्ति के आर्थिक पक्षों का सम्बन्ध है, दिनकर-काव्य में वे बराबर समता की कल्पना के रूप में उतरते रहे। दिनकरजी केवल राजनीतिक स्वाधीनता के ही प्रेमी नहीं, आर्थिक साम्य के भी उपासक रहे हैं। यहां तक कि उनके दार्शनिक काव्य कुरुक्षेत्र में भी, जिसका राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनका साम्य-विषयक यह भाव व्यक्त होने से नहीं रुका:

> साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
> कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान?
> कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
> हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण।
>
> (कुरुक्षेत्र, षष्ठ सर्ग)

तात्पर्य ? जब तक समता नहीं आती, धरती पर हरियाली भी नहीं आएगी।

किन्तु कुरुक्षेत्र से पूर्व की कविताओं में तो कवि के साम्यविषयक विचार और भी उन्मुक्त रूप में प्रकट हुए हैं :

अचरज नहीं, खींच ईंटें यह सुरपुर को बर्बाद करे,
अचरज नहीं, लूट जन्नत वीरानों को आबाद करे।

(अनल-किरीट ; हुंकार)

ऊपर-ऊपर सब स्वांग, कहीं कुछ नहीं सार,
केवल भाषण की लड़ी, तिरंगे का तोरण।
कुछ से कुछ होने को तो आजादी न मिली,
वह मिली गुलामी की ही नकल बढ़ाने को।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

जिस भ्रष्टाचार और लोभ की प्रधानता से देश आज इतना परेशान है उसका संकेत भी दिनकरजी ने १९४८ में ही दिया था :

टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ ;
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो ;
ईमान बचाकर कहता है आँखें सबकी,
बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो जो, दे दो।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

दिनकरजी ने नौकरी १९५२ में छोड़ी और उसी समय वे संसद् के सदस्य हुए। संसत्सदस्य के रूप में दिल्ली आने से पूर्व वे दिल्ली पर दो कविताएं लिख चुके थे, 'नई दिल्ली' १९३३ में, तथा 'दिल्ली और मास्को' १९४५ में। सदस्य होकर दिल्ली आने के बाद उन्होंने दिल्ली पर दो कविताएं और लिखीं ; 'हक की पुकार' १९५२ में, और 'भारत का यह रेशमी नगर' १९५४ में। अब इन चार कविताओं का संकलन 'दिल्ली' नाम से अलग प्रकाशित हुआ है। इन्हें देखने से स्पष्ट विदित होता है कि दिल्ली से कवि अब भी सुलह नहीं कर सका है :

ओ बुझी हुई ज्वालाओं की राखों के ढेर ! सुने जाओ,
सोने से चंगुल मढ़े हुए गद्दी के शेर ! सुने जाओ,

यह स्पष्ट कर दिया था कि कलाकार कहलाने के लिए यदि मात्र कल्पना में भटकना वांछनीय हो तो मुझे वह सुयश नहीं चाहिए। इससे अच्छा काम तो यह है कि कवि चारण और वैतालिक बन जाए।

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि !
बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर भूमि का
मैं चारण, मैं वैताली।

(हुंकार)

जहां तक शुद्ध क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रश्न है, हुंकार की कितनी ही पंक्तियां ऐसी हैं जिनके भीतर तत्कालीन युवकों की अदम्य उमग और वीरता के भाव अत्यन्त ओजस्वी रूप में प्रकट हुए हैं।

हटो व्योम के मेघ पन्थ से,
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध ! दूध ! ओ वत्स ! तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।

(हाहाकार)

स्वाधीनता की प्राप्ति और समाज से वैषम्य हटाकर सबके लिए सुख खोजने की जो उमंग उस समय देशवासियों के हृदय में लहर ले रही थी, उसका पूरा विस्फोट इस कविता में आ गया है।

सन् बयालीस के बहुत पूर्व ही दिनकरजी के भीतर यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि क्रान्ति अब समीप आ गई है और देश में विस्फोट होने ही वाला है। और उनका यह विश्वास उनकी उस समय की अनेक कविताओं में प्रकट हुआ था। ये सभी कविताएं यह पक्का प्रमाण उपस्थित करती हैं कि कवि के कान सीधे जनता के हृदय से लगे हुए थे और वातावरण में जो गर्मी भरती जा रही थी उसे वह क्षण-क्षण समझ रहा था :

दिशा गूंजी, सिहरता व्योम में उल्लास आया,
नये युग-देव का नूतन कटक, लो, पास आया।
पहन द्रोही कवच रण में युगों के मौन बोले,
ध्वजा पर चढ़ अनागत धर्म का हुंकार बोला।

नये युग की भवानी, आ गई वेला प्रलय की,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(दिगम्बरी)

अब की 'अगस्त्य' की वारी है, पापों के पारावार ! सजग,
बैठे, 'विसूवियस' के मुख पर भोले अबोध संसार, सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार, सजग,
दुनिया के वीरो, सावधान, दुनिया के पापी जार, सजग।
जानें किस दिन फुंकार उठें पददलित कालसर्पों के फण।

(विपथगा)

ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
शैलराज, हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी, आज तप का न काल,
नवयुग-शंख-ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

(हिमालय)

ओ मदहोश, बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का,
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।
कल होगा इन्साफ, यहाँ किसने क्या किस्मत पाई है,
अभी नींद से जाग रहा युग, यह पहली अँगड़ाई है।

(अनल-किरीट)

फिर डंके पर चोट पड़ी है,
मौत चुनौती लिए खड़ी है,
लिखने चली आग, अम्बर पर कौन लिखाएगा निज नाम ?

(प्रणति)

हुंकार के बाद जब रसवन्ती निकली, प्रगतिवादी साहित्य के पक्षपाती दिनकरजी से निराश होने लगे। उन्हें लगा मानो दिनकर भी थककर कल्पना

थे वह बहुत कुछ ऐसी ही क्रान्ति थी—

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर-थर करते कानून-न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर भुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।
(विपथगा)

जिन दिनों हुंकार की रचना हुई, दिनकरजी बुद्धिवादी कम, भावनाशील अधिक थे। इसीलिए, कभी-कभी उन्होंने क्रान्ति का आवाहन केवल क्रान्ति के लिए भी किया था। हुंकार में ही एक कविता के भीतर निम्नलिखित पंक्तियां आती हैं जिन्हें अंधी क्रान्ति का स्तवन-मात्र समझा जा सकता है:

स्वातंत्र्य! पूजता मैं न तुझे
इसलिए कि तू सुख-शान्ति-रूप,
हाँ, उसे पूजता जो चलता
तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।
(चाह एक)

किन्तु इसकी भी एक सार्थकता तो थी ही कि युवक विप्लव मचाने को उतावले हो रहे थे और सन्धि के रास्ते स्वराज्य प्राप्त करने की बात वे नहीं सोच सकते थे। किन्तु यह नियति का व्यंग्य है कि देश अन्त में संधि से ही स्वाधीन हुआ।

जहां तक क्रान्ति के आर्थिक पक्षों का सम्बन्ध है, दिनकर-काव्य में वे बराबर समता की कल्पना के रूप में उतरते रहे। दिनकरजी केवल राजनीतिक स्वाधीनता के ही प्रेमी नहीं, आर्थिक साम्य के भी उपासक रहे हैं। यहां तक कि उनके दार्शनिक काव्य कुरुक्षेत्र में भी, जिसका राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनका साम्य-विषयक यह भाव व्यक्त होने से नहीं रुका:

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण।
(कुरुक्षेत्र, षष्ठ सर्ग)

तात्पर्य ? जब तक समता नहीं आती, धरती पर हरियाली भी नहीं आएगी।

किन्तु कुरुक्षेत्र से पूर्व की कविताओं में तो कवि के साम्यविषयक विचार और भी उन्मुक्त रूप में प्रकट हुए हैं :

अचरज नहीं, खींच ईंटें यह सुरपुर को बर्बाद करे,
अचरज नहीं, लूट जन्नत वीरानों को आबाद करे।

(अनल-किरीट ; हुंकार)

ऊपर-ऊपर सब स्वांग, कहीं कुछ नहीं सार,
केवल भाषण की लड़ी, तिरंगे का तोरण।
कुछ से कुछ होने को तो आजादी न मिली,
वह मिली गुलामी की ही नक्ल बढ़ाने को।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

जिस भ्रष्टाचार और लोभ की प्रधानता से देश आज इतना परेशान है उसका संकेत भी दिनकरजी ने १९४८ में ही दिया था :

टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ ;
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो ;
ईमान बचाकर कहता है आँखें सबकी,
बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो जो, दे दो।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

दिनकरजी ने नौकरी १९५२ में छोड़ी और उसी समय वे संसद् के सदस्य हुए। संसदसदस्य के रूप में दिल्ली आने से पूर्व वे दिल्ली पर दो कविताएं लिख चुके थे, 'नई दिल्ली' १९३३ में, तथा 'दिल्ली और मास्को' १९४५ में। सदस्य होकर दिल्ली आने के बाद उन्होंने दिल्ली पर दो कविताएं और लिखीं ; 'हक की पुकार' १९५२ में, और 'भारत का यह रेशमी नगर' १९५४ में। अब इन चार कविताओं का संकलन 'दिल्ली' नाम से अलग प्रकाशित हुआ है। इन्हें देखने से स्पष्ट विदित होता है कि दिल्ली से कवि अब भी सुलह नहीं कर सका है :

ओ बुझी हुई ज्वालाओं की राखों के ढेर ! सुने जाओ,
सोने से चंगुल मढ़े हुए गद्दी के शेर ! सुने जाओ,

में लौट रहे हैं। पर रसवन्ती और द्वन्द्वगीत की छाया में किंचित् विश्राम लेकर दिनकर फिर क्रान्तिकारी काव्य की ओर लौट पड़े।

कुरुक्षेत्र का प्रकाशन रसवन्ती और द्वन्द्वगीत के प्रकाशन के बहुत बाद हुआ। जब कुरुक्षेत्र निकला, कट्टर गांधीवादी उस काव्य से निराश हो गए क्योंकि उसमें हिंसा का आंशिक समर्थन किया गया था। उस समय छिपे-छिपे यह कानाफूसी भी चलती रही कि दिनकर अब उन लोगों के कवि हैं जो गांधीजी की अहिंसा में सच्चे मन से विश्वास नहीं करते। पर गान्धीजी को छोड़कर अहिंसा में सच्चे मन से विश्वास और करता कौन था ? सबके सब उसे नीति-भर मानते थे। यह स्थिति सन् १९४१ में ही स्पष्ट हो चुकी थी जब कांग्रेस ने यह प्रस्ताव किया था कि अंगरेज़ भारत को स्वराज्य दे दें तो भारत मित्र-राष्ट्रों के वास्ते युद्ध करने को तैयार है। इसी प्रस्ताव के कारण गांधीजी ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया था। वे कांग्रेस में फिर तब लौटे जब यह प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

दिनकरजी के हिंसा-अहिंसा-सम्बन्धी विचार कुरुक्षेत्र में आकर नहीं बदले। आरंभ से ही वे यह सोचते आ रहे थे कि अन्याय का प्रतिकार यदि अहिंसा से सम्भव नहीं हो तो हिंसा का आश्रय लेना पाप नहीं है। भारत का पतन राक्षसी गुणों के कारण नहीं, प्रत्युत कोमलता, वैराग्य-साधना और कथित देवगुणों के कारण हुआ, इस सत्य की अनुभूति उस समय प्राय: समस्त शिक्षित समाज को हो रही थी और दिनकरजी आरम्भ से ही इस अनुभूति की कविता बनाकर देश का हृदय हिलाते आ रहे थे। हिमालय नामक कविता में उन्होंने कहा था—

> रे रोक युधिष्ठिर को न यहां,
> जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
> पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा,
> लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

फिर हुंकार में तो उन्होंने स्पष्ट ही गांधीजी के अहिंसा-उपदेश से अपनी असहमति प्रकट की थी। उस संग्रह की एक कविता में 'शास्ता' शब्द आया है। यह नाम बुद्ध को नहीं, प्रत्युत गांधीजी को ही संकेतित करता है।

> ऊब गया हूं देख चतुर्दिक् अपने
> प्रजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन ;

युग-सत्तम संबुद्ध पुनः कहता है,
ताप कलुष है, शिखा बुझा दो मन की।
मैं मनुष्य हूं, दहन धर्म है मेरा,
सृत्ति-साथ अग्निस्फुलिंग हैं मुझमें।
तुम कहते हो, 'शिखा बुझा दो' लेकिन,
आग बुझी तो पौरुष शेष रहेगा ?

(कल्पना की दिशा ; हुंकार)

और हिंसा का यह समर्थन क्यों ? सिर्फ इसलिए कि हमारे चारों ओर हिंसक घूम रहे हैं। जो दर्शन कुरुक्षेत्र में पल्लवित हुआ, उसका बीज हुंकार में ही गिरा था।

तृणाहार कर सिंह भले ही फूले
परमोज्ज्वल देवत्व-प्राप्ति के मद में,
पर, हिंस्रों के बीच भोगना होगा
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।

(कल्पना की दिशा ; हुंकार)

कुरुक्षेत्र में आकर यही भाव अधिक सुस्पष्टता से लिखा गया :

त्याग, तप, करुणा, क्षमा से भीगकर
व्यक्ति का मन तो बली होता, मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।

तथा

कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राह है !
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्म-बल का एक बस चलता नहीं।

पराधीन भारत के नौजवान वीरता का जागरण चाहते थे, धर्म की रूढ़ियों से निकलकर जीवन पर विजय पाना चाहते थे और चाहते थे कि फ्रांस और रूस की तरह भारत में भी क्रान्ति खड्गधारिणी होकर आए और अन्यायियों के अन्याय को चकनाचूर कर दे। दिनकरजी जिस क्रान्ति का आवाहन कर रहे

थे वह बहुत कुछ ऐसी ही क्रान्ति थी—

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर-थर करते कानून-न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

(विपथगा)

जिन दिनों हुंकार की रचना हुई, दिनकरजी बुद्धिवादी कम, भावनाशील अधिक थे। इसीलिए, कभी-कभी उन्होंने क्रान्ति का आवाहन केवल क्रान्ति के लिए भी किया था। हुंकार में ही एक कविता के भीतर निम्नलिखित पंक्तियां आती हैं जिन्हें अंधी क्रान्ति का स्तवन-मात्र समझा जा सकता है:

स्वातंत्र्य! पूजता मैं न तुझे
इसलिए कि तू सुख-शान्ति-रूप,
हाँ, उसे पूजता जो चलता
तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।

(चाह एक)

किन्तु इसकी भी एक सार्थकता तो थी ही कि युवक विप्लव मचाने को उतावले हो रहे थे और सन्धि के रास्ते स्वराज्य प्राप्त करने की बात वे नहीं सोच सकते थे। किन्तु यह नियति का व्यंग्य है कि देश अन्त में संधि से ही स्वाधीन हुआ।

जहां तक क्रान्ति के आर्थिक पक्षों का सम्बन्ध है, दिनकर-काव्य में वे बराबर समता की कल्पना के रूप में उतरते रहे। दिनकरजी केवल राजनीतिक स्वाधीनता के ही प्रेमी नहीं, आर्थिक साम्य के भी उपासक रहे हैं। यहां तक कि उनके दार्शनिक काव्य कुरुक्षेत्र में भी, जिसका राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनका साम्य-विषयक यह भाव व्यक्त होने से नहीं रुका:

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण।

(कुरुक्षेत्र, षष्ठ सर्ग)

तात्पर्य ? जब तक समता नहीं आती, धरती पर हरियाली भी नहीं आएगी।

किन्तु कुरुक्षेत्र से पूर्व की कविताओं में तो कवि के साम्यविषयक विचार और भी उन्मुक्त रूप में प्रकट हुए हैं :

अचरज नहीं, खींच ईंटें यह सुरपुर को बर्बाद करे,
अचरज नहीं, लूट जन्नत वीरानों को आबाद करे।

(अनल-किरीट ; हुंकार)

ऊपर-ऊपर सब स्वांग, कहीं कुछ नहीं सार,
केवल भाषण की लड़ी, तिरंगे का तोरण।
कुछ से कुछ होने को तो आज़ादी न मिली,
वह मिली गुलामी की ही नक़ल बढ़ाने को।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

जिस भ्रष्टाचार और लोभ की प्रधानता से देश आज इतना परेशान है उसका संकेत भी दिनकरजी ने १९४८ में ही दिया था :

✓ टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ ;
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो ;
ईमान बचाकर कहता है आँखें सबकी,
बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो जो, दे दो।

(पहली वर्षगांठ ; नीम के पत्ते)

दिनकरजी ने नौकरी १९५२ में छोड़ी और उसी समय वे संसद् के सदस्य हुए। संसत्सदस्य के रूप में दिल्ली आने से पूर्व वे दिल्ली पर दो कविताएं लिख चुके थे, 'नई दिल्ली' १९३३ में, तथा 'दिल्ली और मास्को' १९४५ में। सदस्य होकर दिल्ली आने के बाद उन्होंने दिल्ली पर दो कविताएं और लिखीं ; 'हक की पुकार' १९५२ में, और 'भारत का यह रेशमी नगर' १९५४ में। अब इन चार कविताओं का संकलन 'दिल्ली' नाम से अलग प्रकाशित हुआ है। इन्हें देखने से स्पष्ट विदित होता है कि दिल्ली से कवि अब भी सुलह नहीं कर सका है :

ओ बुझी हुई ज्वालाओं की राखों के ढेर ! सुने जाओ,
सोने से चंगुल मढ़े हुए गद्दी के शेर ! सुने जाओ,

दिल्ली की सारी चमक-दमक, यह लोच-लचक सब झूठी है,
रेशम पर पड़ती हुई रेशमी की लक-दक सब झूठी है।
झूठा है यह सारा बनाव, झूठे ये महल-अटारी हैं,
तुम यहाँ फूंकते हो वंशी, गाँवों में नाले जारी हैं।

(हक की पुकार, १९५२ ई०)

चल रहे ग्राम-कुंजों में पछिया के झकोर,
दिल्ली, लेकिन ले रही लहर पुरवाई में,
है विकल देश सारा अभाव के तापों से,
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

(भारत का यह रेशमी नगर, १९५४ ई०)

रेणुका में संकलित अपनी विख्यात कविता 'कस्मै देवाय' में (जो कविता को ही संबोधित है) जब उन्होंने लेनिन का नाम लिया था, तब भी उसके पीछे आर्थिक समत्व की ही प्रेरणा काम कर रही थी।

उठ भूषण की भाव-रंगिनी !
लेनिन के दिल की चिनगारी !
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला,
जाग, जाग, ओ क्रांति कुमारी !
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं
जाग आदिकवि की कल्याणी !
फूट-फूट तू मूक कंठ से
बन व्यापक निज युग की वाणी।

ये लाखों क्रौंच भारत की अपार जनता के प्रतीक हैं, जो अभावों से त्रस्त है और यह मूक कंठ भी उसी जनता का है जिसे गांधीजी 'पददलित और निर्वाक्' कहते थे।

दिनकरजी की साम्योपासक यह भावना कुरुक्षेत्र में आकर दर्शन के धरातल पर पहुंच गई और कवि ने बड़े ही विश्वास के साथ कहा :

शांति कहां तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो ?
नहीं किसीको बहुत अधिक हो, नहीं किसीको कम हो।

दिनकरजी जिस टाइप के कवि हैं, वह टाइप स्वभाव से ही विद्रोही होता

है। उनका अपना भी यही विश्वास है कि क्रोध सामाजिक काव्य का मूल-रस है। संतुष्ट कवि कविता नहीं, उपदेश और आराधना लिखता है।

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी दिनकर को संतोष नहीं हुआ। १९४७ में उन्होंने अरुणोदय शीर्षक कविता लिखकर स्वाधीनता का स्वागत उन्मुक्त भाव से किया था। किन्तु स्वराज्य की पहली वर्षगांठ के आते-आते उनका उत्साह समाप्त हो गया और वे स्वाधीन भारत में भी असंतोष की कविता लिखने लगे :

किसने कहा, और मत बेधो हृदय वह्नि के शर से,
भरो भुवन का अंग कुसुम से, कुंकुम से, केसर से ?
कुंकुम लेपूं किसे ? सुनाऊँ किसको कोमल गान ?
तड़प रहा आँखों के आगे भूखा हिन्दुस्तान।
फूलों की रंगीन लहर पर ओ इतरानेवाला !
ओ रेशमी नगर के वासी ! ओ छवि के मतवालो !
सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है,
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अँधियाला है।

(समर शेष है ; १९५४)

और ग्रामों की दुखी जनता की विवशता और विस्मय का यह भाव :

पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज,
सात वर्ष हो गए राह में अटका कहाँ स्वराज ?

(समर शेष है ; १९५४)

गांधीवादी मार्ग से समाजवाद की स्थापना यदि नहीं हुई तो दिनकरजी देश के सामने हलचल और विप्लव से भरा हुआ भविष्य देखते हैं :

बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही जो चाहेगी, सो लेगी।
स्वत्व छीनकर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण,
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान।

(भूदान ; नील कुसुम)

तोड़ना है पुण्य जो तोड़ो खुशी से,
जोड़ने का मोह जी का काल होगा।

अनसुनी करते रहे इस वेदना को,
एक दिन ऐसा अचानक हाल होगा—
वज्र की दीवार यह फट जायगी,
लपलपाती आग या सात्त्विक प्रलय का रूप धरकर
नींव की आवाज़ बाहर आयगी।

(नींव का हाहाकार ; नील कुसुम)

इस देश में ऐसे भी लोग हैं जो गांधीजी से समाजवाद की प्रेरणा लेते हैं और ऐसे लोग भी हैं जो गांधीजी का उद्धरण पूंजीवादी व्यवस्था को कायम रखने के लिए देते हैं। इस पिछले वर्ग के हथकण्डों का अनुमान दिनकरजी को १९५३ में ही हो चुका था और उन्होंने बड़ी ही दूरदर्शिता के साथ लिखा था कि मार्क्स से बचने के निमित्त गांधीवाद का छाता ओढ़ना बेकार होगा। अनर्थपूर्ण संचय को न तो मार्क्सवादी टिकने देंगे, न वे लोग जो गांधीवाद का असली मर्म समझते हैं।

कहो, मार्क्स से डरे हुओं का गांधी चौकीदार नहीं है,
सर्वोदय का दूत किसी संचय का पहरेदार नहीं है।
आशय में जिसके असत्य, हिंसा से जिसकी कुत्सित काया,
सत्य न देगा धूप, अहिंसा उसे न दे पाएगी छाया।

(कांटों का गीत ; नील कुसुम)

दुर्भाग्यवश दिनकरजी का यह अनुमान सत्य निकला और, सचमुच ही, लोग गांधीजी का उद्धरण पूंजीवाद के पक्ष में देने लगे हैं। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर उन्होंने पिछले वर्ष यानी १९६० में दो कविताएं लिखीं जो क्रमशः 'कल्पना' और 'आजकल' में प्रकाशित हुई हैं। मार्क्स के भय से घबराया हुआ धनियों का समाज गांधी को अपना त्राता बनाना चाहता है, यह देश के लिए खतरे की बात है। कवि ने भविष्यद्रष्टा की दूरदर्शिता और आत्मविश्वास के साथ लिखा है :

ना, गांधी सेठों का चौकीदार नहीं है,
न तो लौहमय छत्र जिसे तुम ओढ़ बचा लो
अपना संचित कोष मार्क्स की बौछारों से।
इस प्रकार मत पियो, आग से जल जाओगे ;

गांधी शरबत नहीं, प्रखर पावक-प्रवाह था।
घोल दिया यदि इत्र कहीं अपनी शीशी का,
अनलोदक दूषित अपेय यह हो जाएगा।

(तब भी आता हूँ मैं)

इसी भाव को कुछ और सीधे ढंग से उन्होंने एक दूसरी कविता में लिखा है :

कहो, सर्वत्यागी वह संचय का संतरी नहीं था,
न तो मित्र उन साँपों का जो दर्शन विरच रहे हैं
दंश मारने का अपना अधिकार बचा रखने को।

(एक बार फिर स्वर दो)

दिनकरजी का कहना है कि गांधीजी ने देश को स्वराज्य-पथ पर अग्रसर किया, यह बड़ी बात हुई। पर गांधीवाद की असली विजय तब होगी जब उसके द्वारा समाजवाद की स्थापना हो जाए। गांधीवाद आज कसौटी पर चढ़ा हुआ है।

उन्हें पुकारो जो गांधी के सखा-शिष्य-सहचर हैं।
कहो, आज पावक में उनका कंचन पड़ा हुआ है।
प्रभापूर्ण होकर निकला यह तो पूजा जाएगा,
मलिन हुआ तो भारत की साधना बिखर जाएगी।

(एक बार फिर स्वर दो)

इस कविता में भी कवि ने देश को आगाह किया है कि यदि गांधीवादी ढंग से समता नहीं लाई जा सकी तो देश को विप्लव का सामना करना पड़ेगा :

गांधी अगर जीतकर निकले, जलधारा बरसेगी,
हारे तो तूफान इसी ऊमस से फूट पड़ेगा।

आज के भारत की मनोव्यथा दिनकर-काव्य में अच्छी तरह प्रकट है। उन्होंने कविताओं के सिवा गद्य के भी दो-तीन हज़ार पृष्ठ लिखे हैं, जिनमें उनका चिंतन बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रकट हुआ है। 'संस्कृति के चार अध्याय' के समान ही उनके अन्य निबन्ध-ग्रन्थ भी विचारोत्तेजक और पठनीय हैं। अर्धनारीश्वर, रेती के फूल, उजली आग, वेणुवन और वट-पीपल, ये ऐसे ग्रन्थ

नहीं हैं जो रोज़ लिखे जाते हों। इन ग्रन्थों में दिनकरजी का जो रूप प्रकट हुआ है वह अन्तर्राष्ट्रीय धरातल के चिंतक का रूप है। विशेषतः, 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' के तीनों के तीनों निबन्ध अद्‌भुत, सुगंभीर और विचारोत्तेजना से पूर्ण हैं। कवि-रूप में तो उनकी प्रसिद्धि कुछ कम नहीं है, मेरे मत से एक गद्यकार के रूप में भी दिनकरजी भविष्य में आदर के साथ याद किए जाएंगे।

आश्चर्य है कि राष्ट्रीय भावों पर चढ़कर उदय लेनेवाले दिनकर अब राष्ट्रीयता के विरुद्ध हो गए हैं। अब राष्ट्रीयता उन्हें उतनी ही दूर तक ग्राह्य है जितनी दूर तक वह अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में सहायक होती है। 'नील कुसुम' में उनकी एक कविता का शीर्षक 'राष्ट्रदेवता का विसर्जन' है और अपनी इस विचारधारा को उन्होंने कई निवन्धों और भाषणों में भी पल्लवित किया है। फिर भी यह परिवर्तन किसी भी प्रकार आकस्मिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्म की तरह राष्ट्रीयता भी एक चली हुई गोली वन चुकी है। राष्ट्रीयता जहां तक कि वह पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक हथियार थी, प्रगतिशील थी, पर अब वह प्राच्य देशों में भी (पाश्चात्य में तो वह पहले ही प्रतिक्रियावादी बन चुकी थी) प्रतिक्रियावादी बनती ज़ा रही है।

इसी प्रकार, अब उनकी काव्य-विषयक धारणाएं भी परिवर्तित हो गई हैं। पहले सोद्‌देश्यता को वे कविता का दोष नहीं मानते थे। आज और लोगों के साथ वे भी विशुद्ध काव्य की खोज में हैं। फिर भी, इतने वर्षों में उनके व्यक्तित्व में जो सामाजिक रेखाएं वन गई हैं, वे लुप्त होती नहीं दीखतीं। यही कारण है कि मुझ जैसे लोग उनके आज के काव्य-विषयक विचारों को तो स्वीकार नहीं करते, लेकिन उनकी कविताओं को बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। विशुद्ध काव्य की चर्चा बिलकुल अकेडेमिक चर्चा है। विशुद्ध काव्य कभी भी लिखा नहीं जाता और जब भी वह लिखा जाता है, वह उतना प्रभावशाली नहीं हो पाता जितना अन्य प्रकार का काव्य होता है। स्वयं दिनकरजी की कविताएं इसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण हैं। मैंने जहां तक समझा है, उर्वशी भी सोद्‌देश्य है, क्योंकि उसमें सती की तुलना में अप्सरा को निकृष्ट सिद्ध किया गया है। अलमति-विस्तरेण।

१९०, खैवरपास होस्टल
दिल्ली, ६
२२ मार्च, १९६१

—मन्मथनाथ गुप्त

संकलन

क्रम

दिनकर

बागी

निर्मम नाता तोड़ जगत् का अमरपुरी की ओर चले,
बन्धन-मुक्ति न हुई, जननि की गोद मधुरतम छोड़ चले।
जलता नन्दन-वन पुकारता, मधुप! कहाँ मुँह मोड़ चले?
बिलख रही यसुदा, माधव! क्यों मुरली मंजु मरोड़ चले?
उबल रहे सब सखा, नाश की उद्धत एक हिलोर चले,
पछताते हैं वधिक, पाप का घड़ा हमारा फोड़ चले।
माँ रोती, बहनें कराहतीं, घर-घर व्याकुलता जागी,
उपल सरीखे पिघल-पिघल, तुम किधर चले मेरे बागी?[१]

१९२९ ई०]

---

१. बोरस्टल जेल में शहीद यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर, जिन्होंने १३ सितम्बर, १९२८ को ६२ दिन अनशन करने के बाद अपने प्राणों की आहुति दी थी।

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग शुचि, गर्वोन्नत, महान,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमिट ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?

उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती !
पल-भर को तो कर दृगुन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश ।

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रांत
सीमापति ! तूने की पुकार,
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार ।'

उस पुण्यभूमि पर आज तपी !
रे, आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डँस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गयीं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश ।

किन द्रौपदियों के बाल खुले ?
किन-किन कलियों का अन्त हुआ ?
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ?

पूछे सिकता-कण से हिमपति !
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ कहाँ इसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण-बीच देख,
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्नि-ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट्! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल।
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

२९३३ ई०] [रेणुका

तांडव

नाचो हे, नाचो, नटवर !

चन्द्रचूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि-प्रलय ! अवढर ! शंकर !

नाचो हे, नाचो, नटवर !

आदि लास, अविगत, अनादि स्वन,

अमर नृत्य-गति, ताल चिरन्तन,

अंगभंगि, हुंकृति-झंकृति कर थिरक-थिरक हे विश्वम्भर !

नाचो हे, नाचो, नटवर !

सुन शृंगी - निर्घोष पुरातन,

उठे सृष्टि-हृत् में नव स्पन्दन,

विस्फारित लख काल-नेत्र फिर

काँपे त्रस्त अतनु मन-ही मन ।

स्वर-खरभर संसार, ध्वनित हो नगपति का कैलास-शिखर !

नाचो हे, नाचो, नटवर !

नचे तीव्रगति भूमि कील पर,
अट्टहास कर उठे धराधर,
उपटे अनल, फटे ज्वालामुख,
गरजे उथल-पुथल कर सागर।

गिरे दुर्ग जड़ता का, ऐसा प्रलय बुला दो प्रलयंकर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

घहरें प्रलय-पयोद गगन में,
अन्ध-धूम हो व्याप्त भुवन में,
बरसे आग, बहे झंझानिल,
मचे त्राहि जग के आँगन में,

फटे अतल पाताल, धँसे जग, उछल-उछल कूदें भूधर।
नाचो हे, नाचो, नटवर!

प्रभु! तव पावन नील गगन-तल,
विदलित अमित निरीह-निबल-दल,
मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र-जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित-शोषण।

पूछो, साक्ष्य भरेंगे निश्चय नभ के ग्रह-नक्षत्र-निकर।
नाचो हे, नाचो, नटवर!

नाचो, अग्निखंड भर स्वर में,
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में,

अनिल-कोष, द्रुम-दल, जल-थल में,
अभय विश्व के उर-अन्तर में,
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार के उच्च शिखर में,
स्वामिन्, अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में।
डिम-डिम डमरु बजा निज कर में
नाचो, नयन तृतीय तरेरे!
ओर-छोर तक सृष्टि भसम हो,
अर्चिपुंज अम्बर को घेरे।

रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य और सुन्दर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

१९३३ ई०] [रेणुका

जागो, गांधी पर किये गये मानव-पशुओं के वारों से,[1]
जागो, मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से ।

जागो, गौतम ! जागो, महान !
जागो, अतीत के क्रांति-गान !
जागो, जगती के धर्म-तत्त्व !
जागो हे ! जागो बोधिसत्त्व !

१६३३ ई०] [रेणुका

---

१. देवघर (बिहार) में महात्मा गांधी पर किए गए प्रहार का उल्लेख

परदेशी

माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?
भय है, सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी !
सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी !
सरल कंठ से विषम राग कैसे मैं गाऊँ परदेशी ?

एक बात है सत्य कि झर जाते हैं खिलकर फूल यहाँ,
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी !
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी !

जगती में मादकता देखी, लेकिन, अक्षय तत्त्व नहीं,
आकर्षण में तृप्ति और सुन्दरता में अमरत्व नहीं।
यहाँ प्रेम में मिली विकलता, जीवन में परितोष नहीं,
बाल-युवतियों के आलिंगन में पाया संतोष नहीं।

बुद्धदेव

सिमट विश्व-वेदना निखिल बज उठी करुण अन्तर में,
देव! हुंकरित हुआ कठिन युगधर्म तुम्हारे स्वर में।
काँटों पर कलियों, गैरिक पर किया मुकुट का त्याग,
किस सुलग्न में जगा प्रभो! यौवन का तीव्र विराग?

चले ममता का बंधन तोड़
विश्व की महामुक्ति की ओर।

तप की आग, त्याग की ज्वाला से प्रबोध-संधान किया,
विष पी स्वयं, अमृत जीवन का तृषित विश्व को दान किया।
वैशाली की धूल चरण चूमने ललक ललचाती है,
स्मृति-पूजन में तप-कानन की लता पुष्प बरसाती है।

वट के नीचे खड़ी खोजती लिये सुजाता खीर तुम्हें,
बोधिवृक्ष-तल बुला रहे कलरव में कोकिल-कीर तुम्हें।
शस्त्र-भार से विकल खोजती रह-रह धरा अधीर तुम्हें।
प्रभो! पुकार रही व्याकुल मानवता की ज़ंजीर तुम्हें।

आह ! सभ्यता के प्रांगण में आज गरल-वर्षण कैसा !
घृणा सिखा निर्वाण दिलानेवाला यह दर्शन कैसा !
स्मृतियों का अंधेर ! शास्त्र का दम्भ ! तर्क का छल कैसा !
दीन-दुखी असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा !

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं ?
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई,
दौड़ो बोधिसत्त्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

धूप-दीप, आरती, कुसुम, ले भक्त प्रेमवश आते हैं,
मन्दिर का पट बन्द देख 'जय' कह निराश फिर जाते हैं।
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं,
मेवा छोड़ शाक खाने का याद नाथ को नेम नहीं।

पर, गुलाबजल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे ?
बिना नहाये इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे ?
मनुज-मेध के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए,
कैसे बचें दीन ? प्रभु भी धनियों के गृह में बन्द हुए।

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्त्व ! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।
जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो, हे जागो, तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से।

जागो, गांधी पर किये गये मानव-पशुओं के वारों से,[1]
जागो, मैत्री-निर्घोष! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।

जागो, गौतम! जागो, महान!
जागो, अतीत के क्रांति-गान!
जागो, जगती के धर्म-तत्त्व!
जागो हे! जागो बोधिसत्त्व!

१९३३ ई०] [रेणुका

१. देवघर (बिहार) में महात्मा गांधी पर किए गए प्रहार का उल्लेख

परदेशी

माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?
भय है, सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी !
सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी !
सरल कंठ से विषम राग कैसे मैं गाऊँ परदेशी ?

एक बात है सत्य कि झर जाते हैं खिलकर फूल यहाँ,
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ!
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी !
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी !

जगती में मादकता देखी, लेकिन, अक्षय तत्त्व नहीं,
आकर्षण में तृप्ति और सुन्दरता में अमरत्व नहीं।
यहाँ प्रेम में मिली विकलता, जीवन में परितोष नहीं,
बाल-युवतियों के आलिंगन में पाया संतोष नहीं।

हमें प्रतीक्षा में न तृप्ति की मिली निशानी परदेशी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?

महाप्रलय की ओर सभीको इस मरु में चलते देखा,
किससे लिपट जुड़ाता ? सबको ज्वाला में जलते देखा।
अन्तिम बार चिता-दीपक में जीवन को बलते देखा,
चलते समय सिकन्दर-से विजयी को कर मलते देखा।
सबने देकर प्राण मौत की कीमत जानी परदेशी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?

रोते जग की अनित्यता पर सभी विश्व को छोड़ चले,
कुछ तो चढ़े चिता के रथ पर, कुछ कब्रों की ओर चले।
रुके न पल-भर मित्र, पुत्र माता से नाता तोड़ चले,
लैला रोती रही, किन्तु कितने मजनूँ मुँह मोड़ चले।

जीवन का मधुमय उल्लास,
औ' यौवन का हास-विलास,
रूप-राशि का यह अभिमान,
एक स्वप्न है, स्वप्न अजान।

मिटता लोचन-राग यहाँ पर,
मुरझाती सुन्दरता प्यारी,
एक-एक कर उजड़ रही है
हरी-भरी कुसुमों की क्यारी।

मैं न रुकूँगा इस भूतल पर
जीवन, यौवन, प्रेम गँवाकर,
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको
जहाँ कहीं इस जग से बाहर।

मरते कोमल वत्स यहाँ, बचती न जवानी परदेशी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?

१९३२ ई०] [रेणुका

दिल्ली

यह कैसी चाँदनी अमा के मलिन तमिस्र गगन में !
कूक रही क्यों नियति व्यंग्य से इस गोधूलि-लगन में ?
मरघट में तू साज रही दिल्ली ! कैसे शृङ्गार ?
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन में !

इस उजाड़, निर्जन खँडहर में,
छिन्न-भिन्न उजड़े इस घर में,
तुझे रूप सजने की सूझी
मेरे सत्यानाश - प्रहर में !

डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया तराना,
और तुझे सूझा इस दम ही उत्सव हाय, मनाना ;
हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से,
उधर तुझे भाता है इनपर नमक हाय, छिड़काना !

महल कहाँ ? बस, हमें सहारा
केवल फूस-फाँस, तृणदल का
अन्न नहीं, अवलम्ब प्राण को
गम, आँसू या गंगाजल का,

यह विहगों का झुण्ड लक्ष्य है
आजीवन वधिकों के फल का,
मरने पर भी हमें कफन है
माता शैय्या के अंचल का !

गुलचीं निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,
कुछ सागर के पार और कुछ रावी-सतलज-जल में,
हम मिटते जा रहे, न ज्यों, अपना कोई भगवान !
यह अलका-छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में ?

बिखरी लट, आँसू छलके हैं
देख, वन्दिनी है बिलखाती,
अश्रु पोंछने हम जाते हैं,
दिल्ली! आह! कलम रुक जाती।

अरी, विवश हैं, कहो, करें क्या?
पैरों में ज़ंजीर हाय, हाथों
में हैं कड़ियां कस जातीं।

और कहें क्या ? धरा न धँसती,
हुंकरता न गगन संघाती।
हाय ! वन्दिनी माँ के सम्मुख
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती।

तड़प-तड़प हम कहो करें क्या ?
'बहै न हाथ, दहै रिसि छाती',

अन्तर ही अन्तर घुलते हैं,
'भा कुठार कुण्ठित रिपु-घाती।'

अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ के हुंकारों पर।
पगली! देख, ज़रा कैसी मर-मिटने की तैयारी?
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बनजारों पर।

तू वैभव - मद में इठलाती,
परकीया - सी सैन चलाती,
री ब्रिटेन की दासी! किसको
इन आँखों पर है ललचाती?

हमने देखा यहीं पाण्डु-वीरों का कीर्ति-प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा-स्वप्न-अभिसार,
यहीं कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल,
अकबर, शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृङ्गार।

तू न ऐंठ मदमाती दिल्ली!
मत फिर यों इतराती दिल्ली!
अविदित नहीं हमें तेरी
कितनी कठोर है छाती दिल्ली!

हाय! छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्ध वसन है,
मज़दूरों के कौर छिने हैं
जिनपर उनका लगा दसन है।

छिनी सजी-साजी वह दिल्ली
अरी ! बहादुरशाह 'ज़फर' की,
और छिनी गद्दी लखनउ की
वाजिदअलीशाह 'अख्तर' की।

छिना मुकुट प्यारे 'सिराज' का,
छिना अरी, आलोक नयन का,
नीड़ छिना, बुलबुल फिरती है
वन-वन लिये चंचु में तिनका।

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मज़दूरों की तड़प, पुकारें,
अरी ! गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें !

अंकित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,
दुखियों की कुटिया रो-रो कहती तेरी मनमानी।
औ' तेरा दृग-मद यह क्या है ? क्या न खून बेकस का ?
बोल, बोल, क्यों लजा रही ओ कृषक-मेध की रानी ?

वैभव की दीवानी दिल्ली !
कृषक-मेध की रानी दिल्ली !
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली !

अपने ही पति की समाधि पर
कुलटे ! तू छवि में इतराती !

परदेसी - सँग गलबाँही दे
मन में है फूली न समाती !

दो दिन ही के 'बाल-डांस' में
नाच हुई बेपानी दिल्ली !
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता,
यह कैसी नादानी दिल्ली !

अरी हया कर, है ज़ईफ यह खड़ा कुतुब मीनार,
इबरत की माँ जामा भी है यहीं अरी ! हुशियार !
इन्हें देखकर भी तो दिल्ली ! आँखें, हाय, फिरा ले,
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा, घूँघट ज़रा गिरा ले !

अरी हया कर, हया अभागी !
मत फिर लज्जा को ठुकराती,
चीख न पड़ें कब्र में अपनी,
फट न जाय अकबर की छाती !

हूक न उठे कहीं 'दारा' को
कूक न उठे कब्र मदमाती !
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा,
दिल्ली घूँघट क्यों न गिराती ?

बाबर है, औरंग यहीं है
मदिरा औ' कुलटा का द्रोही,
बक्सर[1] पर मत भूल, यहीं है
विजयी शेरशाह निर्मोही ।

---

१. अंग्रेज़ों की अन्तिम जीत बक्सर में हुई थी ।

अरी ! सँभल, यह कब्र न फटकर कहीं बना दे द्वार !
निकल न पड़े क्रोध में लेकर शेरशाह तलवार !
समझाएगा कौन उसे फिर ? अरी, सँभल नादान !
इस घूँघट पर आज कहीं मच जाय न फिर संहार !

ज़रा गिरा ले घूँघट अपना,
और याद कर वह सुख-सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में
दीवाने सलीम का तपना,
गुम्बद पर प्रेमिका कपोती
के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द-घड़ी में
जन्नत की परियों का जुड़ना ।

ज़रा याद कर, यहीं नहाती
थी रानी मुमताज अतर में,
तुझ-सी तो सुन्दरी खड़ी
रहती थी पैमाना ले कर में ।

सुख, सौरभ, आनन्द बिछे थे
गली, कूच, वन, वीथि, नगर में,
कहती जिसे इन्द्रपुर तू वह
तो था प्राप्य यहाँ घर-घर में ।

आज आँख तेरी बिजली से कौंध-कौंध जाती है !
हमें याद उस स्नेह-दीप की बार-बार आती है !

खिले फूल, पर, मोह न सकती
हमें अपरिचित छटा निराली,
इन आँखों में घूम रही
अब भी मुरझे गुलाब की लाली।

उठा कसक दिल में लहराता है यमुना का पानी,
पलकें जोग रहीं बीते वैभव की एक निशानी,
दिल्ली! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा?
बाट जोहती खँडहर में हम कंगालों की रानी।

१९३३ ई०] [हुंकार

अनल-किरीट

लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !
कालकूट पहले पी लेना, सुधा-बीज बोनेवाले !

(१)

धरकर चरण विजित शृंगों पर झण्डा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की ज़ंग छुड़ाते हैं।

पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।

नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं ?
गति की तृषा और बढ़ती, पड़ते पद में जब छाले हैं।

जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोनेवाले,
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

(२)

जिन्हें देखकर डोल गयी हिम्मत दिलेर मरदानों की,
उन मौजों पर चली जा रही किश्ती कुछ दीवानों की।

बेफिक्री का समाँ कि तूफाँ में भी एक तराना है,
दाँतों उँगली धरे खड़ा अचरज से भरा ज़माना है।

अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं,
ये हैं वे, जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।

रूह ज़रा पहचान रखें इनकी जादू-टोनेवाले,
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

(३)

तीनों लोक चकित सुनते हैं, घर-घर यही कहानी है,
खेल रही नेज़ों पर चढ़कर रस से भरी जवानी है।

भू सँभले, हो सजग स्वर्ग, यह दानों की नादानी है।
मिट्टी का नूतन पुतला यह अल्हड़ है, अभिमानी है।

अचरज नहीं, खींच ईंटें यह सुरपुर को बर्बाद करे।
अचरज नहीं, लूट जन्नत वीरानों को आबाद करे।

तेरी आस लगा बैठे हैं पा-पाकर खोनेवाले।
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

(४)

सँभले जग, खिलवाड़ नहीं अच्छा चढ़ते-से पानी से,
याद हिमालय को, भिड़ना कितना है कठिन जवानी से।

ओ मदहोश ! बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का,
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।

कल होगा इन्साफ, यहाँ किसने क्या किस्मत पाई है,
अभी नींद से जाग रहा युग, यह पहली अँगड़ाई है।

मंज़िल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले !
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

१९३८ ई०] [हुंकार

हाहाकार

दिव की ज्वलित शिखा-सी उड़ तुम जब से लिपट गईं जीवन में,
तृषावन्त मैं घूम रहा कविते ! तब से व्याकुल त्रिभुवन में।

उर में दाह, कण्ठ में ज्वाला, सम्मुख यह प्रभु का मरुथल है,
जहाँ पथिक जल की झाँकी में एक बूंद के लिए विकल है !

घर-घर देखा धुआँ धरा पर, सुना, विश्व में आग लगी है,
'जल ही जल' जन-जन रटता है, कण्ठ-कण्ठ में प्यास जगी है।

सूख गया रस श्याम गगन का एक घूँट विष जग का पीकर,
ऊपर ही ऊपर जल जाते सृष्टि-ताप से पावस-सीकर।

मनुज-वंश के अश्रु-योग से जिस दिन हुआ सिन्धु-जल खारा,
गिरि ने चीर लिया निज उर, मैं ललक पड़ा लख जल की धारा।

पर विस्मित रह गया, लगीं पीने जब वही मुझे सुधि खोकर,
कहती—'गिरि को फाड़ चली हूँ मैं भी बड़ी पिपासित होकर !'

यह वैषम्य नियति का मुझपर, किस्मत बड़ी धन्य उन कवि की,
जिनके हित कविते ! बनतीं तुम झाँकी नग्न अनावृत छवि की।

दुखी विश्व से दूर जिन्हें लेकर आकाश-कुसुम के वन में
खेल रहीं तुम अलस जलद-सी किसी दिव्य नन्दन-कानन में।

भूषण-वसन जहाँ कुसुमों के, कहीं कुलिश का नाम नहीं है।
दिन-भर सुमन-हार-गुम्फन को छोड़ दूसरा काम नहीं है।

वही धन्य, जिनको लेकर तुम बसीं कल्पना के शतदल पर,
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर।

मेरी भी यह चाह, विलासिनि ! सुन्दरता को शीश झुकाऊँ,
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो, उधर वसन्तानिल बन धाऊँ !

एक चाह कवि की यह देखूँ, छिपकर कभी पहुँच मालिनि-तट,
किस प्रकार चलती मुनि-बाला यौवनवती लिये कटि पर घट।

झाँकूँ उस माधवी-कुंज में, जो बन रहा स्वर्ग कानन में,
प्रथम परस की जहाँ लालिमा सिहर रही तरुणी-आनन में।

जनारण्य से दूर स्वप्न में मैं भी निज संसार बसाऊँ,
जग का आर्तनाद सुन अपना हृदय फाड़ने से बच जाऊँ।

मिट जाती ज्यों किरण विहँस सारा दिन कर लहरों पर झिल-मिल,
खो जाऊँ त्यों हर्ष मनाता, मैं भी निज स्वप्नों से हिल-मिल।

'दूध, दूध !' ओ वत्स ! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं,
'दूध, दूध !' तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?

'दूध, दूध !' दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ, किस घर से ?
'दूध, दूध !' हे देव गगन के ! कुछ बूँदें टपका अम्बर से ।

'दूध, दूध !' गंगा, तू ही अपने पानी को दूध बना दे ।
'दूध, दूध !' उफ ! है कोई, भूखे मुर्दों को ज़रा मना दे ?

'दूध, दूध !' फिर 'दूध !' अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
'दूध, दूध !' मरकर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?

वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं !
ये बच्चे भी यहीं, क़ब्र में 'दूध, दूध !' जो चिल्लाते हैं ।

बेकसूर, नन्हे देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय !
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय ?

'दूध, दूध !' फिर सदा क़ब्र की, आज दूध लाना ही होगा,
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंज़िल पर जाना ही होगा ।

जय मानव की धरा साक्षिणी ! जय विशाल अम्बर की जय हो !
जय गिरिराज! विन्ध्यगिरि, जय-जय! हिन्दमहासागर की जय हो !

हटो व्योम के मेघ ! पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध, दूध !...' ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं ।

१९३७ ई०] [हुंकार

दिगम्बरी

उदय-गिरि पर पिनाकी का कहीं टंकार बोला,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला ।

(१)

तिमिर के भाल पर चढ़ कर विभा के बाणवाले,
खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियानवाले !

प्रतीक्षा है, सुनें कब व्यालिनी ! फुंकार तेरा ;
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा ?

दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को ;
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को ।

कलेजों से लगी बत्ती कहीं कुछ जल रही है ;
हवा की साँस पर बेताब-सी कुछ चल रही है ।

धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई ।

पर, नभ में न कुटी बन पाती; मैंने कितनी युक्ति लगाई,
आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी-बनाई।

रह-रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।

कुपित देव की शापशिखा जब विद्युत् बन सिर पर छा जाती,
उठता चीख हृदय विद्रोही, अन्ध भावनाएं जल जातीं।

निरख प्रतीची-रक्त-मेघ में अस्तप्राय रवि का मुख-मंडल,
पिघल-पिघलकर चू पड़ता है दृग से क्षुभित, विवश अंतस्तल।

रणित विषम रागिनी मरण की आज विकट हिंसा-उत्सव में,
दबे हुए अभिशाप मनुज के लगे उदित होने फिर भव में।

शोणित से रँग रही शुभ्र पट संस्कृति निठुर लिए करवालें,
जला रही निज सिंहपौर पर दलित-दीन की अस्थि-मशालें।

घूम रही सभ्यता दानवी, 'शांति! शांति!' करती भूतल में;
पूछे कोई, भिगो रही वह क्यों अपने विष-दन्त गरल में।

टाँक रही हो सुई चर्म पर, शान्त रहें हम, तनिक न डोलें,
यही शान्ति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें?

बोलें कुछ मत क्षुधित, रोटियाँ श्वान छीन खाएँ यदि कर से,
यही शान्ति, जब वे आएँ; हम निकल जायँ चुपके निज घर से?

हब्शी पढ़ें पाठ संस्कृति के, खड़े गोलियों की छाया में,
यही शान्ति, वे मौन रहें जब आग लगे उनकी काया में ?

चूस रहे हों दनुज रक्त, पर, हों मत दलित प्रबुद्ध कुमारी !
हो न कहीं प्रतिकार पाप का, शान्ति या कि यह युद्ध कुमारी !

जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छूटे कभी संग बैलों का, ऐसा कोई याम नहीं हैं।

मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

विभव-स्वप्न से दूर, भूमि पर यह दुखमय संसार कुमारी !
खलिहानों में जहाँ मचा करता है हाहाकार कुमारी !

बैलों के ये बन्धु वर्ष-भर, क्या जानें, कैसे जीते हैं ?
बँधी जीभ, आँखें विषण्ण, गम खा, शायद, आँसू पीते हैं !

पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना ?
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-विलप नगीना ।

विवश देखती माँ, अंचल से नन्ही जान तड़प उड़ जाती,
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती ।

कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है,
'दूध, दूध !' की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है ।

'दूध, दूध !' ओ वत्स ! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं,
'दूध, दूध !' तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?

'दूध, दूध !' दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ, किस घर से ?
'दूध, दूध !' हे देव गगन के ! कुछ बूँदें टपका अम्बर से।

'दूध, दूध !' गंगा, तू ही अपने पानी को दूध बना दे।
'दूध, दूध !' उफ ! है कोई, भूखे मुर्दों को ज़रा मना दे ?

'दूध, दूध !' फिर 'दूध !' अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
'दूध, दूध !' मरकर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?

वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं !
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में 'दूध, दूध !' जो चिल्लाते हैं।

बेकसूर, नन्हे देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय !
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय ?

'दूध, दूध !' फिर सदा कब्र की, आज दूध लाना ही होगा,
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंज़िल पर जाना ही होगा।

जय मानव की धरा साक्षिणी ! जय विशाल अम्बर की जय हो !
जय गिरिराज! विन्ध्यगिरि, जय-जय! हिन्दमहासागर की जय हो !

हटो व्योम के मेघ ! पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध, दूध !...' ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

१९३७ ई०] [हुंकार

दिगम्बरी

उदय-गिरि पर पिनाकी का कहीं टंकार बोला,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(१)

तिमिर के भाल पर चढ़ कर विभा के बाणवाले,
खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियानवाले !

प्रतीक्षा है, सुनें कब व्यालिनी ! फुंकार तेरा ;
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा ?

दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को ;
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।

कलेजों से लगी बत्ती कहीं कुछ जल रही है ;
हवा की साँस पर वेताब-सी कुछ चल रही है।

धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई।

क्षितिज के भाल पर नव सूर्य के सप्ताश्व बोले,
चतुर्दिक् भूमि के उत्ताल पारावार बोला!

नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(२)

थकी बेड़ी कफस की हाथ में सौ बार बोली,
हृदय पर झनझनाती टूट कर तलवार बोली।

कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहाँ में,
ज़माने को तरुण की टोलियाँ ललकार बोलीं।

पुरातन और नूतन वज्र का संघर्ष बोला;
विभा-सा कौंध कर भू का नया आदर्श बोला;

नवागम-रोर से जागी बुझी-ठण्डी चिता भी,
नयी शृंगी उठा कर वृद्ध भारतवर्ष बोला।

दरारें हो गयीं प्राचीर में बन्दी-भवन के,
हिमालय की दरी का सिंह भीमाकार बोला।

नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

'दिनकर'

(३)

लगी है धूल को परवाज़, उड़ती छा रही है,
कड़कती दामिनी, झंझा कहीं से आ रही है।

घटा-सी दीखती जो, वह उमड़ती आह मेरी,
खड़ी जो विश्व का पथ रोक, है वह चाह मेरी।

सजी चिनगारियाँ, निर्भय प्रभंजन मग्न आया,
कयामत की घड़ी आयी, प्रलय का लग्न आया।

दिशा गूंजी, बिखरता व्योम में उल्लास आया,
नये युगदेव का नूतन कटक लो पास आया।

पहन द्रोही-कवच रण में युगों के मौन बोले,
ध्वजा पर चढ़ अनागत धर्म का हुंकार बोला।

नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(४)

हृदय का लाल रस हम वेदिका में दे चुके हैं;
बिहँस कर विश्व का अभिशाप सिर पर ले चुके हैं!

परीक्षा में रुचे, वह कौन हम उपहार लायें ?
बता, इस बोलने का मोल हम कैसे चुकायें ?

युगों से हम अनय का भार ढोते आ रहे हैं;
न बोली तू, मगर, हम रोज़ मिटते जा रहे हैं।

पिलाने को कहाँ से रक्त लायें दानवों को ?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिकार का हम मानवों को ?

ज़रा तू बोल तो, सारी धरा हम फूँक देंगे,
पड़ा जो पन्थ में गिरि, कर उसे दो टूक देंगे।

कहीं कुछ पूछने बूढ़ा विधाता आज आया,
कहेंगे हाँ, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।

जिला फिर पाप को टूटी धरा यदि जोड़ देंगे,
बनेगा जिस तरह उस सृष्टि को हम फोड़ देंगे।

हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनों में,
उठाने मृत्यु का घूंघट हमारा प्यार बोला,

नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

१९३९ ई०]

हुंकार

विपथगा

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन,
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में,
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में,
मैं अहंकार-सी कड़क ठठा हँसती विद्युत् की धारों में,
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में,
अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

मेरे मस्तक के आतपत्र खर काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर-कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन,
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन,
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन ।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है ।
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है,

लहराती लपट दिशाओं में, खलभल खगोल अकुलाता है,
परकटे विहग-सा निरवलम्ब गिर स्वर्ग-नरक जल जाता है,
गिरते दहाड़ कर शैल-शृंग मैं जिधर फेरती हूँ चितवन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

रस्सों से कसे जवान पाप-प्रतिकार न जब कर पाते हैं,
बहनों की लुटती लाज देखकर काँप-काँप रह जाते हैं,
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं,
पी अपमानों के गरल-घूंट शासित जब ओठ चबाते हैं,
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्म-लगन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन।

पौरुष को वेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है,
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है,
धन के विलास का बोझ दुखी-दुर्बल दरिद्र जब ढोता है,
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

डरपोक हुक़ूमत ज़ुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है,
हिम्मतवाले कुछ कहते हैं, तब जीभ तराशी जाती है,
उलटी चालें ये देख देश में हैरत-सी छा जाती है,
भट्ठी की ओदी आँच छिपी तब और अधिक धुँधुआती है,
सहसा चिग्घार खड़ी होती दुर्गा मैं करने दस्यु-दलन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

चढ़कर जुनून-सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर,
आतंक फैल जाता कानूनी पार्लमेंट, सरकारों पर,
'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुंकारों पर,
कर अट्टहास इठलाती हूँ ज़ारों के हाहाकारों पर,
झंझा-सी पकड़ झकोर हिला देती दम्भी के सिंहासन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की बानी हूँ,
दिल-जले शासितों के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ,
सदियों की ज़ब्ती तोड़ जगी, मैं उस ज्वाला की रानी हूँ,
मैं ज़हर उगलती फिरती हूँ, मैं विष से भरी जवानी हूँ,
भूखी बाघिन की घात क्रूर, आहत भुजंगिनी का दंसन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

जब हुई हुक़ूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में,
सोने-सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन के दाहों में,
ले जान हथेली पर निकली मैं मर-मिटने की चाहों में,

मेरे चरणों में खोज रहे भय-कम्पित तीनों लोक शरण।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ,
थर-थर करते कानून-न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ,
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी,
आँखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी,
किसका टूटेगा शृंग, न जानें, किसका महल गिराऊँगी।
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

अबकी अगस्त की बारी है, पापों के पारावर! सजग,
बैठे 'विसूवियस' के मुख पर, भोले, अबोध संसार! सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग,
दुनिया के नीरो! सावधान! दुनिया के पापी ज़ार! सजग।
जानें, किस दिन फुंकार उठें पद-दलित काल-सर्पों के फन।
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

१९३८ ई०] [हुंकार

बालिका से वधू

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम-सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी।
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी।

पीला चीर, कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली,
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली।
पी चुपके आनन्द, उदासी भरे सजल चितवन में,
आँसू में भींगी माया चुपचाप खड़ी आँगन में।

आँखों में दे आँख हेरती हैं उसको जब सखियाँ,
मुस्की आ जाती मुख पर, हँस देतीं रोती अँखियाँ।
पर, समेट लेती शरमाकर बिखरी-सी मुसकान,
मिट्टी उकसाने लगती है अपराधिनी-समान।

भींग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना-कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो, बाहर-बाहर रोना।

नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान ।

तिमिर में ज्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन, अनमोल ;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल ।

हो उठी प्रतिभा सजग, प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा बाण ;
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण ।

लगे रचने निज उर को तोड़
तुम्हारी प्रतिमा प्रतिमाकार,

नाचने लगी कला चहुँ ओर
भाँवरी दे-दे विविध प्रकार ।

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार ;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार ।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित्' ने पायी पूर्ति ;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि !
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्ति ।

कुशल विधि-मानस का नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण ।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गयी खिल कमल-पंक्ति अम्लान ;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष औ' बाण ।

हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह-विजयी बर्बर लाचार,

तू वह, जो झुरमुट पर आयी हँसती कनक-कली-सी,
तू वह, जो फूटी शराब की निर्झरिणी पतली-सी।

तू वह, रच कर जिसे प्रकृति ने अपना किया सिंगार,
तू वह जो धूसर में आयी सबुज रंग की धार।
माँ की ढीठ दुलार! पिता की ओ लजवन्ती भोली,
ले जायगी हिया की मणि को अभी पिया की डोली।

कहो, कौन होगी इस घर की तब शीतल उजियारी?
किसे देख हँस-हँस कर फूलेगी सरसों की क्यारी?
वृक्ष रीझ कर किसे करेंगे पहला फल अर्पण-सा?
झुकते किसको देख पोखरा चमकेगा दर्पण-सा?

किसके बाल ओज भर देंगे खुलकर मन्द पवन में?
पड़ जायेगी जान देखकर किसको चन्द्र-किरन में?
महँ-महँ कर मंजरी गले से मिल किसको चूमेगी?
कौन खेत में खड़ी फसल की देवी-सी झूमेगी?

बनी फिरेगी कौन बोलती प्रतिमा हरियाली की?
कौन रूह होगी इस धरती फल-फूलोंवाली की?
हँसकर हृदय पहन लेता जब कठिन प्रेम-ज़ंजीर,
खुलकर तब बजते न सुहागिन, पांवों के मंजीर।

घड़ी गिनी जाती तब निशिदिन उँगली की पोरों पर,
प्रिय की याद झूलती है साँसों के हिंडोरों पर।

पलती है दिल का रस पीकर सबसे प्यारी पीर,
बनती और बिगड़ती रहती पुतली में तस्वीर।

पड़ जाता चस्का जब मोहक प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है दुनिया में जीने का।
मंगलमय हो पन्थ सुहागिन, यह मेरा वरदान,
हरसिंगार की टहनी-से फूलें तेरे अरमान।

जगे हृदय को शीतल करनेवाली मीठी पीर,
निज को डुबो सके निज में, मन हो इतना गंभीर।
छाया करती रहे सदा तुझको सुहाग की छाँह,
सुख-दुख में ग्रीवा के नीचे हो प्रियतम की बाँह।

पल-पल मंगल-लग्न, ज़िन्दगी के दिन-दिन त्यौहार,
उर का प्रेम फूटकर हो आँचल में उजली धार।

१९३८ ई०] [रसवन्ती

नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान।

तिमिर में ज्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन, अनमोल;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल।

हो उठी प्रतिभा सजग, प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा बाण;
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण।

लगे रचने निज उर को तोड़
तुम्हारी प्रतिमा प्रतिमाकार,

नाचने लगी कला चहुँ ओर
भाँवरी दे-दे विविध प्रकार।

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित्' ने पायी पूर्ति;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि!
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्ति।

कुशल विधि-मानस का नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गयी खिल कमल-पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष औ' बाण।

हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह-विजयी बर्बर लाचार,

रूप के एक तन्तु में नारि,
गया बँध मत्त गयन्द-कुमार।

एक चितवन के शर ने देवि!
सिन्धु को बना दिया परिमेय,
विजित हो दृग-मद से सुकुमारि!
झुका पद-तल पर पुरुष अजेय।

ऊर्मियों ने देखा जब तुम्हें,
टूटने लगे शम्भु के चाप।
बेधने चला लक्ष्य गाण्डीव,
पुरुष के खिलने लगे प्रताप।

हृदय निज फरहादों ने चीर
बहा दी पय की उज्ज्वल धार,
आरती करने को सुकुमारि!
इन्दु को नर ने लिया उतार।

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक-मृग पर होकर हत-ज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।

विकल उर को मुरली में फूँक
प्रियक-तरु-छाया में अभिराम,

बजाया हमने कितनी बार
तुम्हारा मधुमय 'राधा' नाम।

कहीं यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुईं कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि!
पिये हमने सीकर अनमोल!

तुम्हारे अधरों का रस प्राण।
वासना-तट पर पिया अधीर;
अरी ओ माँ, हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु-मकरन्द;
तृषा प्राणों की पर, हे देवि!
एक पल को न सकी हो मन्द।

पुरुष पँखुड़ी को रहा निहार
अयुत जन्मों से छवि पर भूल,
आज तक जान न पाया नारि!
मोहिनी इस माया का मूल।

न छू सकते जिसको हम देवि!
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;

भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय।

तैरतीं स्वप्नों में दिन-रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि!
रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।

१९३९ ई०] [रसवन्ती

ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल ! बोल

हिल रहा धरा का शीर्ण मूल
जल रहा दीप्त सारा खगोल,
तू सोच रहा क्या अचल मौन ?
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल ! बोल ?

जाग्रत जीवन की चरम ज्योति
लड़ रही सिन्धु के आर-पार;
संघर्ष-समर सब ओर, एक
हिमगुहा-बीच घन-अन्धकार।
प्लावन के खा दुर्जय प्रहार
जब रहे सकल प्राचीर काँप,
तब तू भीतर क्या सोच रहा
है क्लीब-धर्म का पृष्ठ खोल ?
क्या पाप-मोक्ष का भी प्रयास
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल ! बोल ?

आलोकधन्वा

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर-मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जूते हैं मेरे,
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे।

मैं उदय-प्रान्त का सिंह प्रदीप्त विभा से,
केसर मेरे बलते हैं कनक शिखा से।
ज्योतिर्मयि अन्तःशिखा अरुण है मेरी,
हैं भाव अरुण, कल्पना अरुण है मेरी।

पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक-कमल-सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना-कोना,
जिसको मैंने छू दिया हुआ वह सोना।

रँग गयी घास पर की शबनम की प्याली,
हो गयी लाल कुहरे की झीनी जाली।

मेरे दृग का आलोक अरुण जब छलका,
बन गयीं घटाएँ बिम्ब उषा-अंचल का।

उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने
आया मैं उज्ज्वल गीत विभा के गाने।
ज्योतिर्धनु की शिंजिनी बजा गाता हूँ,
टंकार-लहर अम्बर में फैलाता हूँ।

किरणों के मुख में विभा बोलती मेरी,
लोहिनी कल्पना उषा खोलती मेरी।
मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

कोदण्ड-कोटि पर स्वर्ग लिये चलता हूँ,
कर-गत दुर्लभ अपवर्ग किये चलता हूँ।
आलोक-विशिख से बेध जगा जन-जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

जड़ को उड़ने की पाँख दिये देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिये देता हूँ।
दौड़ा देता हूँ तरल अग्नि नस-नस में,
रहने देता बल को न बुद्धि के बस में।

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।

बुझ गया ज्वलित पौरुष-प्रदीप
या टूट गये नख-रद कराल ?
या तू लख कर भयभीत हुआ
लपटें चारों दिशि लाल-लाल ?
दुर्लभ सुयोग, यह वह्नि-वाह
धोने आया तेरा कलंक
विधि का यह नियत विधान तुझे
लड़ कर लेना है मुक्ति मोल।

किस असमंजस में अचल मौन
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल ! बोल ?

संसार तुझे दे क्या प्रमाण ?
रक्खे सम्मुख किसका चरित्र ?
तेरे पूर्वज कह गये, "युद्ध
चिर अनघ और शाश्वत पवित्र।"
तप से खिंच आकर विजय पास
है माँग रही बलिदान आज,
"मैं उसे वरूँगी होम सके
स्वागत में जो धन-प्राण आज !"
है दहन मुक्ति का मंत्र एक
सुन, गूंज रहा सारा खगोल;

तू सोच रहा क्या अचल मौन
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल ! बोल ?

नख-दन्त देख मत हृदय हार,
गृह-भेद देख मत हो अधीर;
अन्तर की अतुल उमंग देख,
देखे, अपनी जंजीर वीर!
यह पवन परम अनुकूल देख,
रे, देख भुजा का बल अथाह,
तू चले बेड़ियाँ तोड़ कहीं;
रोकेगा आकर कौन राह?
डगमग धरणी पर दमित तेज
सागर पारे सा उठे डोल;
उठ जाग, समय अब शेष नहीं
भारत माँ के शार्दूल, बोल!

[१९४० ई०]

आलोकधन्वा

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर-मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे,
किरणों में उज्ज्वल गीत गुँथे हैं मेरे।

मैं उदय-प्रान्त का सिंह प्रदीप्त विभा से,
केसर मेरे बलते हैं कनक शिखा से।
ज्योतिर्मयि अन्त:शिखा अरुण है मेरी,
हैं भाव अरुण, कल्पना अरुण है मेरी।

पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक-कमल-सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना-कोना,
जिसको मैंने छू दिया हुआ वह सोना।

रँग गयी घास पर की शबनम की प्याली,
हो गयी लाल कुहरे की झीनी जाली।

मेरे दृग का आलोक अरुण जब छलका,
बन गयीं घटाएँ बिम्ब उषा-अंचल का।

उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने
आया मैं उज्ज्वल गीत विभा के गाने।
ज्योतिर्धनु की शिंजिनी बजा गाता हूँ,
टंकार-लहर अम्बर में फैलाता हूँ।

किरणों के मुख में विभा बोलती मेरी,
लोहिनी कल्पना उषा खोलती मेरी।
मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

कोदण्ड-कोटि पर स्वर्ग लिये चलता हूँ,
कर-गत दुर्लभ अपवर्ग किये चलता हूँ।
आलोक-विशिख से वेध जगा जन-जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

जड़ को उड़ने की पाँख दिये देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिये देता हूँ।
दौड़ा देता हूँ तरल अग्नि नस-नस में,
रहने देता बल को न बुद्धि के वस में।

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।

शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।

लोहू में देता हूँ वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से हो अभय जवानी।
मस्तक में भर अभिमान दिया करता हूँ,
पतनोन्मुख को उत्थान दिया करता हूँ।

म्रियमाण जाति को प्राण दिया करता हूँ,
पीयूष प्रभा-मय गान दिया करता हूँ,
जो कुछ ज्वलन्त हैं भाव छिपे नर-नर में,
है छिपी विभा उनकी मेरे खर शर में।

किरणें आती हैं समय-वक्ष से कढ़ के,
जाती हैं अपनी राह धनुष पर चढ़ के।
हूँ जगा रहा आलोक अरुण बाणों से,
मरघट में जीवन फूंक रहा गानों से।

मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

[हुंकार

१९४० ई०]

आग की भीख

(१)

धुंधली हुईं दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है;
मुंह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
दाता, पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे;
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार मागता हूँ।

(२)

बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?
मँझधार है, भँवर है या पास है किनारा?
यह नाश आ रहा या सौभाग्य का सितारा?

आकाश पर अनल से लिख दे अदृष्ट मेरा,
भगवान, इस तरी को भरमा न दे अँधेरा।
तम-वेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की, कठिन घड़ी में, पहचान माँगता हूँ।

(३)

आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बल-पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है;
अग्निस्फुलिंग रज का, बुझ, ढेर हो रहा है,
है रो रही जवानी, अन्धेर हो रहा है।
निर्वाक् है हिमालय, गंगा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ।
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।

(४)

मन की बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं,
अरमान-आरज़ू की लाश निकल रही हैं।
भींगी-खुली पलों में रातें गुज़ारते हैं,
सोती वसुन्धरा जब तुझको पुकारते हैं।
इनके लिए कहीं से निर्भीक तेज ला दे,
पिघले हुए अनल का इनको अमृत पिला दे,
उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ,
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(५)

आँसू-भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे,
मेरे श्मशान में आ शृंगी ज़रा बजा दे,
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे,
हिमशीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे।
आमर्ष को जगाने वाली शिखा नयी दे,
अनुभूतियाँ हृदय में दाता, अनलमयी दे।
विष का सदा लहू में संचार माँगता हूँ,
बेचैन ज़िन्दगी का मैं प्यार माँगता हूँ।

(६)

ठहरी हुई तरी को ठोकर लगा चला दे,
जो राह हो हमारी उस पर दिया जला दे।
गति में प्रभंजनों का आवेग फिर सबल दे।
इस जाँच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, अचल दे।
हम दे चुके लहू हैं, तू देवता विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
प्यारे स्वदेश के हित वरदान माँगता हूँ,
तेरी दया विपद में भगवान, माँगता हूँ।

१९४३ ई०] [सामधेनी

दिल्ली और मास्को

(१)

जय विधायिके अमर क्रांति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त-कुसुम-धारिणि ! जगतारिणि ! जय नव शिवे ! भवानी !

अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र मतवाली, जय हो ।

जगज्ज्योति, जय जय, भविष्य की राह दिखानेवाली,
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली ।
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले,
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले ।

नगर-नगर जल रहीं भट्टियाँ,
घर-घर सुलग रही चिनगारी ;

यह आयोजन जगद्दहन का,
यह जल उठने की तैयारी;
देश-देश में शिखा क्षोभ की,
उमड़-उमड़ कर बोल रही है;
लरज रहीं चोटियाँ शैल की,
धरती क्षण-क्षण डोल रही है।

ये फूटे अंगार, कढ़े अंबर में लाल सितारे,
फटी भूमि, वे बढ़े ज्योति के लाल-लाल फव्वारे।
बंध, विषमता के विरुद्ध सारा संसार उठा है,
अपना बल पहचान, लहर कर पारावार उठा है।
छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बंधन की कड़ियाँ,
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियाँ

(२)

एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतन्त्रता
से हो रहा साम्य का कामी।
अमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो—
रही दीप्त स्वातन्त्र्य-समर की,
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को,
बिसार सुधि अपने घर की।

जहाँ मृषा संबंध विश्व-मानवता
से नर जोड़ रहा है,
जन्मभूमि का भाग्य जगत की
नीति-शिला पर फोड़ रहा है।

चिल्लाते हैं 'विश्व, विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धिभीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(३)

दिल्ली, आह, कलंक देश का,
दिल्ली, आह, ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह, मरण पौरुष का,
दिल्ली, छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी,
दिल्ली, पराधीन भारत की जलती हुई कहानी।
मरे हुओं की ग्लानि, जीवितों को रण की ललकार,
दिल्ली, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार।

बरबस लगी देश के होठों
से यह भरी ज़हर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर
गरल उँडेल लोटने वाली।

प्रश्नचिह्न भारत का, भारत के बल की पहचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की, भारत का अपमान।

(४)

ओ समता के वीर सिपाही,
कहो, सामने कौन अड़ी है?
बल से दिये पहाड़ देश की,
छाती पर यह कौन पड़ी है?

यह है परतंत्रता देश की,
रुधिर देश का पीनेवाली,
मानवता कहता तू जिसको
उसे चबाकर जीनेवाली।

यह पहाड़ के नीचे पिसता
हुआ मनुज क्या प्रेय नहीं है?
इसका मुक्ति-प्रयास स्वयं ही
क्या, उज्ज्वलतम श्रेय नहीं है?

यह जो कटे वीर-सुत मां के,
यह जो बही रुधिर की धारा,
यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो कांप गया नभ सारा,

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश,
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास,
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उट्ठी मिलित, दहाड़,
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।

सो क्या था विस्फोट अनर्गल ?
बाल-कुतूहल ? नर-प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्य-नाद था ?

इस उद्वेलन-बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या ?
लाल भवानी पहुंच गयी है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या ?

फूट पड़ी है क्या न प्राण में नये तेज़ की धारा ?
गिरने को हो रही छोड़कर नींव नहीं क्या कारा ?
नगपति के पद में जब तक है बंधी हुई ज़ंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?

(५)

दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी,
प्राचीरों में गरज रही है
ज़ंजीरों से कसी जवानी।

यह प्रवाह निर्भीक तेज का,
यह अजस्र यौवन की धारा,
अनवरुद्ध यह शिखा यज्ञ की,
यह दुर्जय अभियान हमारा।

यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरनेवाली,
जन-जन के मन में बन पौरुष-शिखा विहरनेवाली।
अर्पित करो समिध, आओ, हे समता के अभियानी!
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।

(६)

हाँ, भारत की लाल भवानी,
जवा-कुसुम के हारोंवाली,
शिवा, रक्त - रोहित - वसना,
कबरी में लाल सितारोंवाली।

कर में लिए त्रिशूल, कमंडलु,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य - धर्म - ध्वज - धर की माता।

भरत-भूमि की मिट्टी से शृंगार सजानेवाली,
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शांति का शंख बजानेवाली।

(७)

दिल्ली का नभ दहक उठा, यह
श्वास उसी कल्याणी का है।
चमक रही जो लपट चतुर्दिक्,
अंचल लाल भवानी का है।

खोल रहे जो भाव वह्निमय,
ये हैं आशीर्वाद उसीके,
'जय भारत' के तुमुल रोर में
गुंजित संगर नाद उसीके।

दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभियानी।

१९४५ ई०] [सामधेनी

नेता

नेता ! नेता ! नेता !

क्या चाहिए तुझे रे मूरख !

सखा? बन्धु? सहचर? अनुरागी?

या जो तुझको नचा-नचा मारे

वह हृदय-विजेता ?

नेता ! नेता ! नेता !

मरे हुओं की याद भले कर,

किस्मत से फरियाद भले कर,

मगर, राम या कृष्ण लौटकर

फिर न तुझे मिलने वाले हैं।

टूट चुकी है कड़ी,

एक तू ही उसको पहने बैठा है।

पूजा के ये फूल फेंक दें,

अब देवता नहीं होते हैं।

भूदान

कौन टोकता है शंका से ? चुप रह, चुप, अपलापी !
क्रिया-हीन चिन्तन के अनुचर, केवल ज्ञान-प्रलापी !
नहीं देखता, ज्योति जगत् में नूतन उभर रही है ?
गांधी की चोटी से गंगा आगे उतर रही है।
अंधकार फट गया, विनोबा में धर कर आकार
घूम-घूम वेदना देश की घर-घर रही पुकार।

ओ सिकता में चंचु गाड़ कर सुख से सोनेवालो !
चिन्ताएँ सब डाल भाग्य पर निर्भय होनेवालो !
पहुँच गई है घड़ी, फैसला अब करना ही होगा,
दो में एक राह पर पगले ! पग धरना ही होगा।
गांधी की लो शरण, बदल डालो मिलकर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथों कटने को तैयार।

अपने को ही नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना

बाँध तोड़ जिस रोज़ फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज़ ? वही जो चाहेगी, सो लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

पहचानो, यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है ?
समझ सको यदि मर्म, बुलाये बिना दौड़ कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।
स्वत्व छीनकर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण।
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान।

१९५२ ई०] [नील कुसुम

बीत चुके हैं सतयुग-द्वापर,
बीत चुका है त्रेता।
नेता! नेता! नेता!

नेता का अब नाम नहीं ले,
अन्धेपन से काम नहीं ले,
हवा देश की बदल गयी है,
चाँद और सूरज, ये भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं।
और जानता नहीं अभागे,
मन्दिर का देवता चोर-बाज़ारी में पकड़ा जाता है?
फूल इसे पहनायेगा तू?
अपना हाथ घिनायेगा तू?

उठ मन्दिर के दरवाज़े से,
ज़ोर लगा खेतों में अपने,
नेता नहीं, भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने।
पूजे अगर खेत के ढेले
तो सचमुच, कुछ पा जायेगा,
भीख याकि वरदान माँगता
पड़ा रहा तो पछतायेगा।
इन ढेलों को तोड़,
भाग्य इनसे तेरा जगनेवाला है।

नेताओं का मोह मूढ़ !
केवल तुझको ठगनेवाला है ।
लगा ज़ोर अपने भविष्य का बन तू आप प्रणेता ।
नेता ! नेता ! नेता !

[नीम के पत्ते
१९५२ ई०]

भूदान

कौन टोकता है शंका से ? चुप रह, चुप, अपलापी !
क्रिया-हीन चिन्तन के अनुचर, केवल ज्ञान-प्रलापी !
नहीं देखता, ज्योति जगत् में नूतन उभर रही है ?
गांधी की चोटी से गंगा आगे उतर रही है।
अंधकार फट गया, विनोबा में धर कर आकार
घूम-घूम वेदना देश की घर-घर रहो पुकार।

ओ सिकता में चंचु गाड़ कर सुख से सोनेवालो !
चिन्ताएँ सब डाल भाग्य पर निर्भय होनेवालो !
पहुँच गई है घड़ी, फैसला अब करना ही होगा,
दो में एक राह पर पगले ! पग धरना ही होगा।
गांधी की लो शरण, बदल डालो मिलकर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथों कटने को तैयार।

अपने को ही नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना

बाँध तोड़ जिस रोज़ फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज़ ? वही जो चाहेगी, सो लेगी ।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट ।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट ।

पहचानो, यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है ?
समझ सको यदि मर्म, बुलाये बिना दौड़ कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ ।
स्वत्व छीनकर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण ।
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान ।

१६५२ ई०] [नील कुसुम

तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।

चुपचाप ज़िन्दगी भर इसने जो ज़ुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया ज़िन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिये!
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते।
बचकर उनको बेदाग निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।

कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गयी, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

१९५२ ई०] [नील कुसुम

कवि की मृत्यु

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कंधों पर उठा लिया,
वन ने भेजे चंदन-श्रीखंड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से,
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से।

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

देवों ने कहा, बड़ा सुख था इसके मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।

माया बोली, मैं कई बार थी भूल गयी
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में।

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हँसने लगता,
धोखा देकर मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आयीं याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।
जिसके आगे तूफान अदब से झुकते हैं,
उसको भी इसने अहंकार से झेला था।

नारियाँ बिलखने लगीं, बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज़ रुलानेवाली थी।

वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसू से भरी हुई,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानो, अपना ही तनय झूमता आता हो।

चिन्तन में डूबा हुआ सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।

तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।

चुपचाप ज़िन्दगी भर इसने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है ?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया ज़िन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेवसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिये !
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते।
बचकर उनको वेदाग निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता ?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।

कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गयी, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

१९५२ ई०] [नील कुसुम

भारत का यह रेशमी नगर

हो गया एक नेता मैं भी ? तो बंधु, सुनो,
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ,
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चाँदनियों का बोझ किसी विधि सहता हूँ।

दिल्ली फूलों में बसी, ओस-करण से भींगी,
दिल्ली सुहाग है, सुषमा है, रंगीनी है,
प्रेमिका-कंठ में पड़ी मालती की माला,
दिल्ली सपनों की सेज मधुर रस-भीनी है।

बस, जिधर उठाओ दृष्टि, उधर रेशम केवल,
रेशम पर से क्षण भर को आँख न हटती है,
सच कहा एक भाई ने, दिल्ली में तन से
रेशम से रुखड़ी चीज़ न कोई सटती है।

आखिर हो भी क्यों नहीं ? कि दिल्ली के भीतर
जानें, युग से कितनी सिद्धियाँ समायी हैं !

औ' सबका पहुँचा काल तभी से जब उनकी
आँखें रेशम पर बहुत अधिक ललचायी हैं।

रेशम के कोमल तार, क्लान्तियों के धागे,
हैं बँधे उन्हींसे अंग यहाँ आज़ादी के,
दिल्लीवाले गा रहे बैठ निश्चित, मगन
रेशमी महल में गीत खुरदरी खादी के।

वेतनभोगिनी, विलासमयी यह देवपुरी,
ऊँघती कल्पनाओं से जिसका नाता है,
जिसको इतनी चिंता का भी अवकाश नहीं
खाते हैं जो वह अन्न कौन उपजाता है।

उद्यानों का यह नगर, कहीं भी जा देखो,
इसमें कुम्हार का चाक न कोई चलता है,
मज़दूर मिलें, पर, मिलता कहीं किसान नहीं,
फूलते फूल, पर, मक्का कहीं न फलता है।

क्या ताना है मोहक वितान मायापुर का!
बस, फूल-फूल, रेशम-रेशम फैलाया है,
लगता है, कोई स्वर्ग खमंडल से उड़कर
मदिरा में माता हुआ भूमि पर आया है।

ये, जो फूलों के चीरों में चमचमा रहीं,
मधुमुखी इंद्रजाया की सहचरियाँ होंगी,

ये, जो यौवन की घूम मचाये फिरती हैं,
भूतल पर भटकी हुई इंद्रपरियाँ होंगी।

उभरे गुलाब से घट कर कोई फूल नहीं,
नीचे कोई सौंदर्य न कसी जवानी से,
दिल्ली की सुषमाओं का कौन बखान करे ?
कम नहीं कड़ी कोई भी स्वप्न-कहानी से।

गंदगी, गरीबी, मैलेपन को दूर रखो,
शुद्धोदन के पहरेवाले चिल्लाते हैं,
है कपिलवस्तु पर फूलों का शृंगार पड़ा,
रथ-समारूढ़ सिद्धार्थ घूमने जाते हैं।

सिद्धार्थ देख रम्यता रोज़ ही फिर आते,
मन में कुत्सा का भाव नहीं, पर, जगता है,
समझाये उनको कौन, नहीं भारत वैसा
दिल्ली के दर्पण में जैसा वह लगता है ?

भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर, भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

रेशमी कलम से भाग्य-लेख लिखनेवालो,
तुम भी अभाव से कभी ग्रस्त हो रोये हो ?

बीमार किसी बच्चे की दवा जुटाने में
तुम भी क्या घर भर पेट बाँधकर सोये हो ?

असहाय किसानों की क़िस्मत को खेतों में
क्या अनायास जल में बह जाते देखा है ?
'क्या खायेंगे ?' यह सोच निराशा से पागल
बेचारों को नीरव रह जाते देखा है ?

देखा है ग्रामों की अनेक रंभाओं को,
जिनकी आभा पर धूल अभी तक छायी है ?
रेशमी देह पर जिन अभागिनों की अब तक,
रेशम क्या ? साड़ी सही नहीं चढ़ पायी है।

पर, तुम नगरों के लाल, अमीरी के पुतले,
क्यों व्यथा भाग्यहीनों की मन में लाओगे ?
जलता हो सारा देश, किंतु, होकर अधीर
तुम दौड़-दौड़ कर क्यों यह आग बुझाओगे ?

चिंता हो भी क्यों तुम्हें ? गाँव के जलने से
दिल्ली में तो रोटियाँ नहीं कम होती हैं।
धुलता न अश्रु-बूँदों से आँखों का काजल,
गालों पर की धूलियाँ नहीं नम होती हैं।

जलते हैं तो ये गाँव देश के जला करें,
आराम नई दिल्ली अपना कब छोड़ेगी ?

या रक्खेगी मरघट में भी रेशमी महल,
या आँधी की खाकर चपेट सब छोड़ेगी।

चल रहे ग्राम-कुंजों में पछिया के झकोर,
दिल्ली, लेकिन, ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से,
दिल्ली सुख से सोयी है नरम रजाई में

क्या कुटिल व्यंग्य ! दीनता वेदना से अधीर
आशा से जिनका नाम रात-दिन जपती है,
दिल्ली के वे देवता रोज़ कहते जाते,
'कुछ और धरो धीरज, किस्मत अब छपती है।'

किस्मतें रोज़ छप रहीं, मगर, जलधार कहाँ ?
प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में,
निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे,
पानी विलीन होता जाता है रेतों में।

हिल रहा देश कुत्सा के जिन आघातों से,
वे नाद तुम्हें ही नहीं सुनायी पड़ते हैं ?
निर्माणों के प्रहरियो ! तुम्हें ही चोरों के
काले चेहरे क्या नहीं दिखायी पड़ते हैं ?

तो होश करो, दिल्ली के देवो, होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलनेवाली है,

होती जाती हैं गर्म दिशाओं की साँसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलनेवाली है।

हो रहीं खड़ी सेनाएँ फिर काली-काली
मेघों-से उभरे हुए नये गजराजों की,
फ़िर नये गरुड़ उड़ने को पाँखें तोल रहे,
फिर झपट झेलनी होगी नूतन बाज़ों की।

वृद्धता भले बँध रहे रेशमी धागों से,
साबित इनको, पर, नहीं जवानी छोड़ेगी,
जिसके आगे झुक गये सिद्धियों के स्वामी,
उस जादू को कुछ नयी आँधियाँ तोड़ेंगी।

ऐसा टूटेगा मोह, एक दिन के भीतर
इस राग-रंग की पूरी बर्बादी होगी,
जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा,
तब तक दिल्ली के भी तन पर खादी होगी।

१९५४ ई०] [नील कुसुम

झील

मत छुओ इस झील को।
कंकड़ी मारो नहीं,
पत्तियाँ डारो नहीं,
फूल मत बोरो।
और कागज़ की तरी इसमें नहीं छोड़ो।

खेल में तुमको पुलक-उन्मेष होता है,
लहर बनने में सलिल को क्लेश होता है।

[सीपी और शंख

वातायन

मैं झरोखा हूँ
कि जिसकी टेक लेकर
विश्व की हर चीज़ बाहर झाँकती है।

पर, नहीं मुझ पर,
झुका है विश्व तो उस ज़िन्दगी पर
जो मुझे छूकर सरकती जा रही है।

जो घटित होता, यहाँ से दूर है।
जो घटित होता, यहाँ से पास है।
कौन है अज्ञात ? किसको जानता हूँ ?

और की क्या बात ?
कवि तो आप अपना भी नहीं है।

[सीपी और शंख

नाम

तुम कहाँ से आ रहे हो ?
नाम क्या है ?
वह पुकारू शब्द मत मुझको बताओ,
जो तुम्हारा आवरण है ।

पर, कहो वह नाम
जिसको फूल औ' नक्षत्र, ये कहते नहीं हैं ।
नाम जो असहाय मर जाता उसी दिन
जिस दिवस हम भूमितल पर जन्म लेते हैं ।

तुम जवानी हो ?
कि शैशव आप अपना पाठ फिर दुहरा रहा है ?
ज़िन्दगी हो ?
या सुनहला रूप धर कर मृत्यु विचरण कर रही है ?

[सीपी और शंख

किशोर कवियों से

यौवन पकता है निमग्न अपने ही रस में।
कला सिद्ध होती जब सुषमा की समाधि में
विपुल काल तक कलाकार खोया रहता है।
वह सब होगा पूर्ण, एक दिन तुम चमकोगे
जैसे ये नक्षत्र चमकते हैं अम्बर पर।

बनो संत-से चारु कि जैसे यूनानी थे।
जो अदृश्य हैं देव उन्हें पूजो सन्मन से।
और मर्त्य मनुजों से भी मत आँख चुराओ।

परिभाषा मत गढ़ो, न दो उपदेश किसीको,
गुरु से मिले न ज्ञान, भ्रान्तियाँ और सघन हों,
तब जा पूछो बात कहीं एकान्त प्रकृति से।

[सीपी और शंख

कवि और प्रेमी

प्राप्त है इनको सखे ! कुछ ज्ञान भी, अज्ञान भी,
वायु हैं ये,
विश्व के मन को बहाकर
सत्य-सुषमा की दिशा की ओर करते हैं ।
मानवों में देवता जो सो रहे, उनको जगाते हैं ।
रात्रि के ये क्रोध हैं,
हुंकार भरते हैं तिमिर में
और हाहाकार करके भोर करते हैं ।

आँख के हैं अश्रु कोई भी न जिनको जानता है ।
सिन्धु-तट की वह मधुरता हैं
न जो मिटती कभी है ।

बालुका पर मनुज के पद-चिह्न जो पड़ते,
ये जुगा उनको भविष्यत् के लिए धरते ।

[सीपी और शंख

तुम सड़क पर जा रहे थे

तुम सड़क पर जा रहे थे,
मैं बगल की वीथि पर,
तुम बहुत थे तेज,
मेरी चाल अतिशय मन्द थी ।

और तब मैंने तुम्हें देखा ।
मगर, यह क्या हुआ ?
पड़ गये मेरे चरण किस व्यूह में ?
पाश था वह कौन जिसमें पाँव मेरे फँस गये ?
चेतना यह भी नहीं थी जानती,
मैं तुम्हारे पास हूँ या दूर हूँ ?

आज भी हैं वीथि पर मेरे चरण,
आज भी तो तुम सड़क पर जा रहे ।
वीथि, लेकिन, मन्दतर है मन्द से,
तुम निकलते जा रहे, लेकिन, सुरीले छन्द-से ।

[सीपी और शंख

नामांकन

सिन्धु-तट की बालुका पर जब लिखा मैंने तुम्हारा नाम,
याद है, तुम हँस पड़ी थीं, 'क्या तमाशा है !
लिख रहे हो इस तरह तन्मय
कि जैसे लिख रहे होओ शिला पर ।
मानती हूँ, यह मधुर अंकन अमरता पा सकेगा ।
वायु की क्या बात ? इसको सिन्धु भी न मिटा सकेगा ।'

और तब से नाम मैंने है लिखा ऐसे
कि, सचमुच, सिन्धु की लहरें न उसको पायँगी ।
फूल में सौरभ, तुम्हारा नाम मेरे गीत में है ।
विश्व में यह गीत फैलेगा ।
अजन्मा पीढ़ियाँ सुख से
तुम्हारे नाम को दुहरायँगी ।

[सीपी और शंख

पाप

कलाकार के श्रम पर हँसना पाप है।
और पाप है
गहन बुद्धि से जिसे समझना चाहिए,
उस कृति को देखना
नीच बन ग्राम्य दृष्टि से।

उससे भी है बड़ा पाप यदि तुम मित्रों को
तज दो जब उन पर महान संकट छाये हों।
बड़े पाप हैं ये, पर ये सब धुल सकते हैं।

किन्तु, कहीं तुमने दो प्रेमासक्त उरों की
शान्ति भंग की,
परमेश्वर भी पाप नहीं यह क्षमा करेगा।

[सीपी और शंख

तूफान

मेरे भीतर का ईश्वर,
विकराल क्रोध है ऊसर, अनजोती ज़मीन
पर ताण्डव का त्योहार रचानेवाला !
मेरे भीतर का ईश्वर,
है मेरे मन के स्वर्ग-लोक की नींव हिला
मेरे भीतर भूकम्प मचानेवाला
मेरे भीतर का ईश्वर,
है अग्नि चंड मैं उसके भीतर जलता हूँ ।

मेरे भीतर का ईश्वर,
है घन घमण्ड ; अम्बर का उद्वेलित समुद्र,
मेघों को, जानें, हाँक कहाँ से लाता है ।
मेरे भीतर का ईश्वर,
है नामहीन, एकाकी, अभिशापित विहंग
जो हृदय-व्योम में चिल्लाता, मँडराता है ।
मेरे भीतर का ईश्वर,
है ज़ोर-ज़ोर से पटक रहा मेरे मस्तक को पत्थर पर ।

मेरे भीतर का ईश्वर,
यह महाघोर चतुरंग प्रभंजन वेगवान
मेरे मन के निर्जन, अकूल, आश्रयविहीन
उत्तप्त प्रान्त में ज्वालाएँ भड़काता है।
भीतर उर के मुद्रित कपाट,
बाहर-बाहर वह प्रलय-केतु फहराता है।

[सीपी और शंख

समर शेष है

ढीली करो धनुष की डोरी, तरकस का कस खोलो।
किसने कहा, युद्ध की वेला गई, शान्ति से बोलो।
किसने कहा, और मत वेधो हृदय वह्नि के शर से,
भरो भुवन का अंग कुसुम से, कुंकुम से, केशर से ?
कुंकुम लेपूं किसे ? सुनाऊँ किसको कोमल गान ?
तड़प रहा आँखों के आगे भूखा हिन्दुस्तान।

फूलों की रंगीन लहर पर ओ उतरानेवाले !
ओ रेशमी नगर के वासी ! ओ छवि के मतवाले !
सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है।
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अँधियाला है।
मखमल के परदों के बाहर, फूलों के उस पार,
ज्यों का त्यों है खड़ा आज भी मरघट-सा संसार।

वह संसार जहाँ पर पहुँची अब तक नहीं किरण है,
जहाँ क्षितिज है शून्य अभी तक अम्बर तिमिर-वरण है।

देख जहाँ का दृश्य आज भी अंतस्तल हिलता है,
माँ को लज्जावसन और शिशु को न क्षीर मिलता है।
पूछ रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज
सात वर्ष हो गये, राह में अटका कहाँ स्वराज ?

अटका कहाँ स्वराज ? बोल दिल्ली ! तू क्या कहती है ?
तू रानी बन गयी, वेदना जनता क्यों सहती है ?
सब के भाग दबा रक्खे हैं किसने अपने कर में ?
उतरी थी जो विभा, हुई बन्दिनी, बता, किस घर में ?
समर शेष है, यह प्रकाश बन्दीगृह से छूटेगा।
और नहीं तो तुझपर पापिनि ! महा वज्र टूटेगा।

समर शेष है, इस स्वराज्य को सत्य बनाना होगा।
जिसका है यह न्यास, उसे सत्वर पहुँचाना होगा।
धारा के मग में अनेक पर्वत जो खड़े हुए हैं,
गंगा का पथ रोक इन्द्र के गज जो अड़े हुए हैं;
कह दो उनसे, झुके अगर तो जग में यश पायेंगे,
अड़े रहे तो ऐरावत पत्तों-से बह जायेंगे।

समर शेष है, जनगंगा को खुल कर लहराने दो,
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बह जाने दो।
पथरीली, ऊँची ज़मीन है, तो उसको तोड़ेंगे,
समतल पीटे बिना समर की भूमि नहीं छोड़ेंगे।
समर शेष है, चलो ज्योतियों के बरसाते तीर।
खंड-खंड हो गिरे विषमता की काली ज़ंजीर।

समर शेष है, अभी मनुज-भक्षी हुंकार रहे हैं।
गांधी का पी लहू जवाहर पर फुंकार रहे हैं।
समर शेष है, अहंकार इनका हरना बाकी है,
वृक को दंतहीन, अहि को निर्विष करना बाकी है।
समर शेष है, शपथ धर्म की, लाना है वह काल,
विचरें अभय देश में गांधी और जवाहरलाल।

तिमिर-पुत्र ये दस्यु कहीं कोई दुष्काण्ड रचें ना।
सावधान हो खड़ी देश भर में गांधी की सेना।
बलि देकर भी बली! स्नेह का यह मृदु व्रत साधो रे!
मन्दिर औ' मस्जिद, दोनों पर एक तार बाँधो रे!
समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध।
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

१९५४ ई०]

एक बार फिर स्वर दो

एक बार फिर स्वर दो ।
जिस गंगा के लिए भगीरथ सारी आयु तपे थे,
और हुई जो विवश छोड़ अंबर भू पर बहने को
लाखों के आँसुओं, करोड़ों के हाहाकारों से,
लिये जा रहा इन्द्र कैद करने को उसे महल में ।
सींचेगा वह गृहोद्यान अपना इसकी धारा से
और भगीरथ के हाथों में डंडा थमा कहेगा,
अगर मार्क्स को मार सके तुम, हम तुमको पूजेंगे,
हार गये तो, गंगा की धारा जो ले आये हो,
उसी धार में बोर-बोर हम तुम्हें मार डालेंगे ।

एक बार फिर स्वर दो ।
देख रहे हो, गांधी पर कैसी विपत्ति आयी है ?
तन तो उसका गया, नहीं क्या मन भी शेष बचेगा ?
अगर चुरा ले गया भाव-प्रतिमा कोई मन्दिर से
उन अपार, असहाय, बुभुक्षित लोगों का क्या होगा,

जो अब भी हैं खड़े मौन गांधी से आस लगा कर ?

एक बार फिर स्वर दो ।
कहो, सर्वत्यागी वह संचय का सन्तरी नहीं था,
न तो मित्र उन साँपों का जो दर्शन विरच रहे हैं,
दंश मारने का अपना अधिकार बचा रखने को ।

एक बार फिर स्वर दो ।
उन्हें पुकारो, जो गांधी के सखा, शिष्य, सहचर हैं,
कहो, आज पावक में उनका कंचन पड़ा हुआ है ।
प्रभापूर्ण होकर निकला तो यह पूजा जायेगा ।
मलिन हुआ तो भारत की साधना बिखर जायेगी ।

एक बार फिर स्वर दो ।
कहो, शान्ति का मन अशान्त है, बादल गुमर रहे हैं,
तप्त, ऊमसी हवा टहनियों में छटपटा रही है ।
गांधी अगर जीत कर निकलें, ज़लधारा बरसेगी,
हारे तो तूफान इसी ऊमस से फूट पड़ेगा ।

१९६०]

तब भी आता हूँ मैं

टूट गये युग के दरवाज़े ?
बन्द हो गयी क्या भविष्य की राह ?
तब भी आता हूँ मैं ।

बल रहते ऐसी निर्बलता,
स्वर रहते स्वरवालों के शब्दों का अर्थाभाव,
दोपहरी में ऐसा तिमिर नहीं देखा था ।

खिसक गयी शृंखला सितारों की ? प्रकाश के
पुत्र वहाँ अब नहीं जहाँ पहले उगते थे ?
मही छूट सहसा विश्वंभर के प्रबन्ध से
सचमुच ही, पड़ गयी मनुष्यों के हाथों में ?

धुआँ, धुआँ सब ओर, चतुर्दिक् घुटन भरी है,
आँख मूँदने पर भी तो अब दीप्ति न आती ।
तिमिर-व्यूह है ध्यान, गीत का मन काला है,
धूम-ध्वान्त फूटता कला की रेखाओं से ।

तो यह सब क्या इसी भाँति चलता जायेगा ?
यह विषपूर्ण प्रवाह ? कुटिल यह घुटन प्राण को ?
और वायु क्या इसी भाँति भरती जायेगी
वणिक्-तुला पर चढ़ी बुद्धि के फूत्कारों से ?

ना, गाँधी सेठों का चौकीदार नहीं है,
न तो लौहमय छत्र जिसे तुम ओढ़ बचा लो
अपना संचित कोष मार्क्स की बौछारों से ।

इस प्रकार मत पियो, आग से जल जाओगे ;
गांधी शरबत नहीं, प्रखर पावक-प्रवाह था,
घोल दिया यदि इत्र कहीं अपनी शीशी का
अनलोदक दूषित-अपेय यह हो जायेगा ।

ओ विशाल तम-तोम, चतुर्दिक घिरी घटाओ !
कब जनमेगी अशनि तुम्हारी व्याकुलता से ?
धुओं और ऊमस में जो छटपटा रहा है,
वह प्रकाश कब तक खुल कर बाहर आयेगा ?

दोपहरी का अन्धकार ! ओ सूर्य, तुम्हारा
करने को उद्धार व्योम पर जाते हैं हम ;
आविष्कृत कर नया प्रेम, शब्दों के भीतर
मूर्च्छित अर्थों को दे प्राण जिलाते हैं हम ।

पढ़ो, सामने के अक्षर क्या कहते हैं ये,
विनय विफल हो जहाँ, बाण लेना पड़ता है,
स्वेच्छा से जो न्याय नहीं देता है उसको,
एक रोज़ आखिर सब कुछ देना पड़ता है।

टूट गये युग के दरवाज़े ?
बन्द हो गयी क्या भविष्य की राह ?
तब भी आता हूँ मैं।

१९६० ई०]

परिशिष्ट–१

दिनकर के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ

१९०८ (३० सितम्बर)	सिमरिया (ज़ि० मुंगेर) बिहार में जन्म
१९२८	मोकामाघाट से मैट्रिक
१९३०	कवि-जीवन प्रारम्भ
१९३२	पटना कालेज से बी० ए०
१९३३	एक हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक
१९३५	रेणुका का प्रकाशन
१९३४ से १९४७	बिहार सरकार के अधीन सब्-रजिस्ट्रार; नौ वर्ष बाद युद्ध-प्रचार-विभाग में तबादला; फिर बिहार सरकार के प्रचार-विभाग के उपनिर्देशक; इस बीच साहित्य के माध्यम से स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण योग दिया
१९५० से १९५२ (मार्च)	मुजफ्फरपुर कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष
१९५२ से अब तक	सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र देकर राज्य-सभा के कांग्रेसी सदस्य
१९५९	साहित्य अकादमी की ओर से 'संस्कृति के चार अध्याय' पर ५००० रुपये का पुरस्कार
१९५९	'पद्मभूषण' की उपाधि

परिशिष्ट–२

१. दिनकर-साहित्य की सूची

काव्य-ग्रन्थ

१. प्रणभंग	(खंड-काव्य)	प्रथम प्रकाशित	१६२६ ई०	अप्राप्य
२. रेणुका	(काव्य-संग्रह)	"	१६३५ ई०	उदयाचल से
३. हुंकार	"	"	१६३६ ई०	प्राप्य
४. रसवन्ती	"	"	१६४० ई०	"
५. द्वन्द्व गीत	(रुबाइयां)	"	१६४० ई०	"
६. कुरुक्षेत्र	(महाकाव्य)	"	१६४६ ई०	"
७. सामधेनी	(काव्य-संग्रह)	"	१६४७ ई०	"
८. बापू	(गांधी-काव्य)	"	१६४७ ई०	"
९. इतिहास के आंसू	(काव्य-संग्रह)	"	१६५१ ई०	"
१०. धूप और धुआं	"	"	१६५१ ई०	अप्राप्य
११. रश्मिरथी	(खंड-काव्य)	"	१६५२ ई०	प्राप्य
१२. दिल्ली	(काव्य-संग्रह)	"	१६५४ ई०	"
१३. नीम के पत्ते	"	"	१६५४ ई०	"
१४. नील कुसुम	"	"	१६५४ ई०	"
१५. चक्रवाल	"	"	१६५६ ई०	"
१६. कवि श्री	"	"	१६५६ ई०	"
१७. सीपी और शंख	"	"	१६५७ ई०	"
१८. नये सुभाषित	"	"	१६५७ ई०	"
१९. उर्वशी	(महाकाव्य)	"	१६६१ ई०	"

गद्य-ग्रन्थ

२०. मिट्टी की ओर	(आलोचना)	प्रथम प्रकाशित	१९४६ ई०	प्राप्य
२१. अर्धनारीश्वर	(निबंध-संग्रह)	"	१९५२ ई०	"
२२. रेती के फूल	"	"	१९५४ ई०	"
२३. हमारी सांस्कृतिक एकता	(संस्कृति)	"	१९५४ ई०	"
२४. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता	(संस्कृति)	"	१९५५ ई०	"
२५. संस्कृति के चार अध्याय	(संस्कृति)	"	१९५६ ई०	"
२६. उजली आग	(कथा और गद्यकाव्य)	"	१९५६ ई०	"
२७. देश-विदेश	(यात्रा-विवरण)	"	१९५७ ई०	"
२८. काव्य की भूमिका	(आलोचना)	"	१९५८ ई०	"
२९. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	(आलोचना)	"	१९५८ ई०	"
३०. वेणुवन	(निबंध-संग्रह)	"	१९५८ ई०	"
३१. धर्म, नैतिकता और विज्ञान	"	"	१९५९ ई०	"
३२. वट-पीपल	(संस्मरण और निवन्ध)	"	१९६१ ई०	"

बाल-साहित्य

३३. धूप-छांह	(कविताएं)	"	१९४७ ई०	"
३४. चित्तौर का साका	(गद्य)	"	१९४९ ई०	"

३५. मिर्च का

मज़ा	(कविताएं)	प्रथम प्रकाशित	१९५१ ई०	प्राप्य
सूरज का ब्याह	"	"	१९५५ ई०	"

३६. भारत की सांस्कृतिक

कहानी	(गद्य)	"	१९५५ ई०	"

२. दिनकर-साहित्य पर विरचित स्वतंत्र ग्रन्थ

१. दिनकर की काव्य-साधना — ले० श्री मुरलीधर श्रीवास्तव, एम० ए०
प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस, पटना

२. दिनकर और उनकी काव्य-प्रवृत्तियां ले० पंडित शिवचन्द्र शर्मा,
प्रकाशक—जनवाणी प्रेस, कलकत्ता–७

३. दिनकर और उनकी काव्य-कृतियां ले० प्रोफेसर कपिल, एम० ए०
प्रकाशक—इभा प्रकाशन, मुंगेर

४. दिनकर — ले० प्रोफेसर शिवबालक राय, एम० ए०
प्रकाशक—यूनिवर्सल प्रेस, १९ शिवचरण लाल रोड, प्रयाग

५. दिनकर के काव्य — ले० पंडित लालधर त्रिपाठी,
प्रकाशक—आनन्द पुस्तक भवन, पहाड़िया, वाराणसी–२

६. रश्मिरथी-समीक्षा — ले० प्रताप साहित्यालंकार
प्रकाशक—विद्युत्-निकेतन प्रकाशन, विद्यापुरी, डाकघर—बिहारीगंज
जिला—पूर्णियां, बिहार

७. कवि दिनकर और कुरुक्षेत्र — ले० श्री लक्ष्मीनारायण टंडन प्रेमी और श्री राम खेलावन चौधरी
प्रकाशक—विद्या-मंदिर, रानी कटरा, लखनऊ

८. कुरुक्षेत्र-मीमांसा — ले० कान्तिमोहन शर्मा, एम० ए०
प्रकाशक—साहित्य-प्रकाशन-मंडल, करौलबाग, नई दिल्ली

९. दिनकर की काव्य-साधना	नेमिचन्द्र जैन 'भावुक' प्रकाशक—अन्तः प्रान्तीय कुमार परिषद, जोधपुर
१०. दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि	कामेश्वर शर्मा
११. द्वन्द्वगीत की टीका	जगदीश मिश्र 'मैथिल'
१२. दिनकर और उनका कुरुक्षेत्र	तारकनाथ बाली
१३. कुरुक्षेत्र—एक अध्ययन	नेमिचन्द्र जैन 'भावुक'

३. वे पुस्तकें जिनमें दिनकरजी पर निबन्ध हैं

१. चरित्र-रेखा	श्री जनार्दन प्रसाद झा द्विज
२. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत	श्री लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु
३. कविता-कौमुदी—भाग २	श्री रामनरेश त्रिपाठी
४. आधुनिक साहित्य	पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी
५. प्रगतिवाद की रूपरेखा	पंडित शिवचन्द्र शर्मा
६. साहित्य-चिन्ता	डाक्टर देवराज
७. विचार और विश्लेषण	डाक्टर नगेन्द्र
८. विचार और अनुभूति	"
९. विचार और विवेचन	"
१०. बिहार की काव्य-साधना	श्री मुरलीधर श्रीवास्तव
११. हिन्दी महाकाव्य और महाकाव्यकार	श्री रामचरण महेन्द्र
१२. मूल्य और मीमांसा	प्रोफेसर कुमार विमल
१३. हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार	श्री सिंहासन राय सिद्धेश
१४. काव्य और कवि	श्री विश्वमोहन कुमार सिंह
१५. Introducing Hindi Writers	श्री मदन गोपाल
१६. A History of Hindi Literature	श्री के० वी० जिन्दल
१७. साहित्य-वार्ता	गिरिजा दत्त शुक्ल गिरीश

१८. लोकदृष्टि और साहित्य	चन्द्रबली सिंह
१६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद	डाक्टर शंभुनाथ पाण्डेय
२०. हिन्दी के आलोचक	संपादिका—शचीरानी गुर्टू

४. पत्र-पत्रिकाओं में उल्लेखनीय निबंध

१. हंस का रेखा चरितांक, १६३६	श्री कामेश्वर शर्मा कमल
२. आजकल—फरवरी १६६०	श्री भगवतीचरण वर्मा
३. दैनिक हिन्दुस्तान, अक्टूबर, १६५६	श्री गोपाल प्रसाद व्यास
४. Hindustan Review, 1948	श्री जगदीशचन्द्र माथुर
५. The Illustrated Weekly of India, 29. 5. 1960	श्रीमती कमला रत्नम्
६. The National Herald 31. 7. 60	,,
७. -Do- 7. 8. 60	,,
८. युगान्तर (पूजासंख्या)	श्रीमती माया गुप्त
६. विविध—१६६०	श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

५. अन्य भाषाओं में अनुवाद

१. कुरुक्षेत्र का कन्नड़ भाषा में अनुवाद	अनुवादक—श्री कुमुद प्रिय प्रकाशक—सुब्रह्मण्येश्वर बुक डिपो, बंगलौर–२
२. कुरुक्षेत्र का तेलुगू भाषा में अनुवाद	अनुवादक—श्री रामचन्द्र राव प्रकाशक—विशालान्ध्र प्रकटनालयम् विजयवाड़ा–२

० ० ०